गुरुदत्त

सम्भवामि युगे युगे



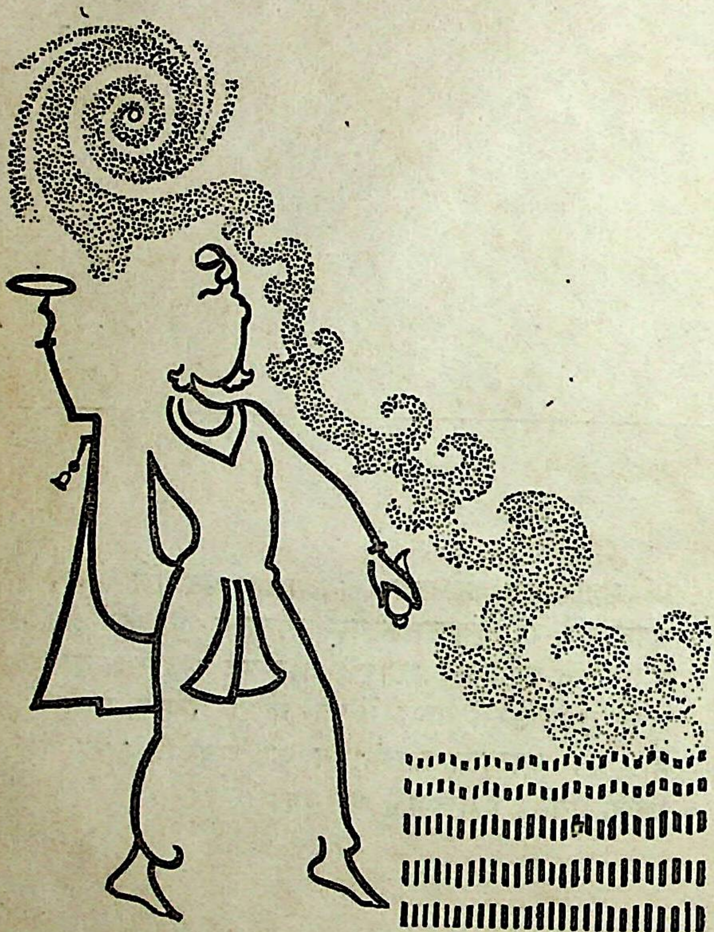
भाग २

सम्भवामि युगे-युगे

भाग २

(उपन्यास)

महाभारत की कथा कें आधार पर लिखे गये उपन्यासों की श्रृंखला में यह उपन्यास एक कड़ी है। महाभारत ज्ञान का भण्डार है और यह भण्डार अत्यन्त सरस तथा सरल भाषा में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। यह उपन्यास महाभारत की शुद्ध विवेचना में लिखा गया है। लेखक हैं श्री गुरुदत्त



सम्भवामि युगे युगे

उपन्यास

२

भारती साहित्य सदन - नई दिल्ली

मूल्य : पचीस रुपये

प्रकाशक : भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली-१
वितरक : भारती साहित्य सदन सेल्स,
३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१
मुद्रक : विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

प्रथम परिच्छेद

: १ :

पांडवों के खांडव क्षेत्र में चले जाने के पश्चात् मुझको धृतराष्ट्र का निमंत्रण मिला। मैं वहां गया तो महाराज के पास दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण बैठे हुए थे। मैंने प्रणाम किया तो महाराज धृतराष्ट्र ने बैठने का आदेश दे दिया। मेरे बैठने पर दुर्योधन ने मुझको सम्बोधन करके कहा, "तात् ! हमको ज्ञात हुआ है कि आपकी पाठशाला बंद हो गयी है।"

"हां महाराज !"

"हमें यह भी पता चला है कि आपने श्रीकान्त और शकुन्तला से कुछ भी नहीं लिया।"

"हां महाराज ! आपको ठीक ही पता चला है।"

"तो निर्वाह कैसे होता है ?"

"महाराज, एक ब्राह्मण के लिए निर्वाह की कठिनाई कभी नहीं हुई। जब भी किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो श्रीमान् जैसे किसी दयालु के पास जा पहुँचता हूँ और वह एक ब्राह्मण को आवश्यकता में देख उसकी झोली भर देता है।"

"यह तो अति हीन अवस्था है। मांगने के लिए जाते हुए लज्जा तो लगती होगी।"

"लज्जा की बात नहीं है महाराज ! एक ब्राह्मण का धर्म है कि दान ले और दान दे।"

इस पर कर्ण ने माथे पर त्योरी चढ़ाकर कहा, "तो आप दान देते भी हैं ? भला क्या दान देते हैं ?"

"जो मेरे पास है। मैं वेद-वेदांग का ज्ञाता हूँ। अतः जिज्ञासु को

अपना ज्ञान देता हूं।"

इस पर दुःशासन हँस पड़ा। वह बोला, "यह भी भला कोई दान देने की वस्तु है। सुना है कि उपनिषद् पढ़ने से वैराग्य उत्पन्न होता है, जो दुःख ही देता है।"

मैं मुस्कराया और कहने लगा, "जिसके पास जो है, वही तो दान रूप में बांट सकता है।"

"यह विद्या है क्या ? हम तो वेद-वेदांग को अविद्या मानते हैं।"

"तो कुमार ! आपको आवश्यकता नहीं कि आप इसकी प्राप्ति के लिए यत्न करें। मेरे पास तो यही है और मैं इसी का दान देता हूं। यह विद्या केवल उनको ही दी जाती है जो इसको प्राप्त करने में अपना कल्याण मानते हों।"

"कितनी व्यर्थ की बात है ! आप तो अपना जीवन ही निष्फल कर रहे हैं। हम चाहते थे कि हम आपके अनुभव का लाभ उठा सकते।"

"यह मेरा अहोभाग्य होगा। परन्तु श्रीमान्, मेरे अनुभव का निचोड़ यही है कि वेद भगवान ज्ञान का स्रोत हैं। यह असत्य नहीं हैं, न हो सकते हैं।"

"यह कैसे कहते हैं आप ?"

"इस कारण, कुमार ! कि वेद सब संसार के मूल स्रोत भगवान का ज्ञान देने वाले हैं। इसका ज्ञान हो जाने से—

'भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।[1]
शमन्ते यस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

अतः ऐसे व्यक्ति को मरण-जन्म के बन्धन में आने की आवश्यकता नहीं रहती।"

अब धृतराष्ट्र ने कहा, "संजयजी ! इनको यह बताओ कि कैसे भगवान का ज्ञान और भ्रमजनित संशयों की निवृत्ति, एक राजा के कार्य में सहायक हो सकती है ?"

---

१. ब्रह्म परमात्मा का ज्ञान अविद्यारूप ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न कर देता है। मन के सब संशय मिट जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते। अर्थात् वे फल नहीं देते

"महाराज ! वही निवेदन करना चाहता हूँ। जिस मनुष्य के संशय निवृत्त हो जाते हैं उसके लिए इस संसार में कोई भी कार्य नहीं रह जाता।

"भगवान के ज्ञान का अर्थ है अपने को इस भवसागर के कर्त्ता के साथ सस्वर कर लेना। जैसे दो वाद्य-यंत्र एक ही स्वर में हो जाने से एक समान बजने लगते हैं, वैसे ही जब हम उस परम शक्तिमान् के साथ अपने को सस्वर कर लेते हैं तो हमारे सम्मुख ब्रह्माण्ड से रहस्य सुस्पष्ट हो जाते हैं। राज्य तो इस ब्रह्माण्ड के कार्य का एक अति सूक्ष्म भाग है। इस अवस्था में राज्य-कार्य सरल हो जाता है।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "इन राजकुमारों को इस कथन पर विश्वास नहीं है !"

"यह तो परीक्षा का विषय है, महाराज ! देखिये, आपने पांडवों को खाण्डव क्षेत्र का भाग दे दिया है। वह सारा जांगल्य देश है। उसमें अधिकांश मरुभूमि है।

'पांडवों ने भगवान का नाम लेकर कार्यारम्भ किया है। और जो सूचनाएं अभी तक आयी हैं, उनसे यह समझ में आता है कि उनको किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो रही। लोग स्वेच्छा से कर देते हैं। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए वहां वृष्टि होती है और प्रजा संतुष्ट तथा प्रसन्न प्रतीत होती है।

"इन्द्रप्रस्थ एक छोटा-सा गांव था। वह देखते ही देखते एक नगर बनता जा रहा है। वहां पर प्रासाद, उद्यान, क्रीड़ा-स्थान, विद्यालय, आतुरालय वेग से बनते जा रहे हैं।

"मैं इसको भगवान की अनुकम्पा ही मानता हूं।"

इस पर तीनों कुमार हँस पड़े। हँसने के पश्चात् दुर्योधन ने पूछा, "क्या वहां युधिष्ठिर को परिश्रम नहीं करना पड़ता ?"

"महाराज ! यदि परिश्रम करने मात्र से ही कोई कार्य सम्पन्न हो सकता तो कर्मकार राजा बन जाते। वे मुझ और आपसे अधिक परिश्रम करते हैं। फिर श्रीमान ने भी तो ऐसे कार्य करने का यत्न किया है जो भगवान की इच्छा के प्रतिकूल थे। श्रीमान के विपुल प्रयत्न पर भी उनमें सफलता नहीं मिली।"

इस पर दुःशासन ने पूछ लिया, "कौनसा ऐसा कार्य हमने किया है जिसमें हमें सफलता नहीं मिली।"

मैंने मुस्कराते हुए कह दिया, "कुमार, उन सब कार्यों की बात तो मैं जानता नहीं जो तुम लोग छुप-छुप करते रहते हो। वे तुम जानो और तुम्हारा अन्तरात्मा जाने। मैं तो कुछ उन कार्यों के विषय में ही बता सकता हूं जो मेरे ज्ञान में आये हैं। क्या उनकी गिनती कराऊं?"

"एक तो बताइये।"

"भीम को विष देकर मारने का प्रयास; लक्ष-गृह में पांडवों को जीवित जला देने का प्रयास; द्रौपदी के स्वयंवर के समय एक निर्धन ब्राह्मण को स्वयंवर में विजय प्राप्त करते देख उसके उपहार को बलपूर्वक छीनने का यत्न। कुमार! ये आपके कुछ कार्य हैं जिनमें भगवान से अनुकूलता नहीं थी और इन सबमें आपको भाग-दौड़ करने पर भी सफलता नहीं मिली।"

"यह आप कैसे कह सकते हैं कि इन कर्मों में भगवान से अनुकूलता नहीं थी?" कर्ण ने बात बीच में काटते हुए कहा, "संसार भर की भूमि, धन और सुन्दर स्त्रियां नरेशों के भोग की वस्तु हैं। भारत की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को एक निर्धन ब्राह्मण के हाथ में जाते देख बाधा डालना हमारा कर्त्तव्य ही था। यह कर्त्तव्य भगवान का निश्चय किया हुआ नहीं, कैसे कहते हैं आप?"

"अंगराज!" मैंने कहा, "भगवदेच्छा के विपरीत कार्य करने वाले में सर्वप्रथम यही दोष आ जाता है कि वह युक्ति नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि इतनी मलिन हो जाती है कि वह काले को गोरा और गोरे को काला मानने लगता है।

"संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों का भोग करना नरेशों का कर्त्तव्य है, यह एक अनर्गल वक्तव्य है। इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं।"

"जब कोई कार्य श्रेष्ठजन करे तो वह प्रमाण माना जाना चाहिए। भीष्मजी ने काशिराज की कन्याओं का अपहरण किया था। द्वारिकाधिपति कृष्ण ने रुक्मिणी का अपहरण किया था। क्या इसको आप प्रमाण नहीं मानते?"

"भीष्म जी की काशी-नरेश की कन्याओं का अपहरण एक असफल प्रयास था। भीष्म जी ने कुरु वंश को चलाने के लिए यह पाप-कर्म किया था। परन्तु वंश चला नहीं। इसीलिए तो पीछे वंश चलाने के लिए महर्षि व्यासजी को कष्ट देना पड़ा था।

"भीष्म जी के इस प्रयास की असफलता का ज्ञान करना है तो राज-माता अम्बिका और अम्बालिका से जाकर पूछ लो।

"रही द्वारिका के कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के अपहरण की बात; परन्तु इसको अपहरण कहना शब्द का दुरुपयोग करना है। कृष्ण रुक्मिणी के निमन्त्रण पर ही उनको लेने गये थे।

"मैं पूछता हूं कि अंगराज को द्रौपदी के स्वयंवर में ऊधम मचाना क्या भीष्म जी के कार्य के अनुसार था अथवा कृष्ण जी के अनुसार? भीष्म जी ने काशिराज की कन्याओं का, किसी के गले में जयमाला डालने से पहले अपहरण किया था। श्रीमान ने तो द्रौपदी के, उस ब्राह्मण के गले में जयमाला डालने के पश्चात् तथा उसकी इच्छा के विपरीत, यह यत्न किया था।

"अब देखिये कि, जो आप करने जा रहे थे, भगवान की इच्छा के विरुद्ध कैसे सिद्ध होता है। सर्वप्रसिद्ध व्यापक धर्मों में—

'तत्र हिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः।

शौच धर्म संतोष तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमः॥'

लिखा है।

"इन धर्मों में अस्तेय को धर्म का एक अंग माना है। द्रौपदी के जयमाला, लक्ष्य बींधने वाले के गले में डाल देने के पश्चात् उसको छीनने का यत्न चोरी अथवा डाका डालने के तुल्य था। यह परमात्मा की इच्छा के विपरीत ही था।"

"तो हम सब चोरी करने जा रहे थे? क्या भीष्म जी ने भी चोरी की थी।"

कर्ण क्रोध से कांपने लगा था। मैं निर्भय उनके सामने बैठा मुस्करा रहा था। कर्ण के कथन का उत्तर मैं दे चुका था। मैं उसको दोहराने वाला था। परन्तु धृतराष्ट्र जी ने अपने हाथ के संकेत से हम सबको चुप कराते हुए कहा, "देखो कुमार! एक बात तुमको माननी ही

पड़ेगी। वह यह कि तुम जीवन में असफल रहे हो। इस असफलता में कारण है तुम लोगों का भगवदेच्छा के विपरीत आचरण। यही संजय जी का भी मत है। तुम इस कारण को असत्य मानते हो, परन्तु कोई अन्य कारण बता नहीं सके। इससे मैं कहता हूं कि अभी तुम संजय जी के कहे कारण को सत्य मान, अपने आचरण को उनके कहे अनुसार चलाने की परीक्षा भी कर लो। ऐसा करने में क्या हानि है ?

"अभी तक तुम कणिक की नीति का अनुकरण करते रहे हो। मेरा कहना है कि अब तुम संजय जी के कहे अनुसार कार्य करके भी देख लो। क्या जाने इसमें ही तुम्हारे जीवन की सफलता छुपी हो।"

दुर्योधन ने बताया, "हमने कणिक जी को छुट्टी दे दी है। यह तो मैं भी विचार कर रहा था कि उनमें कार्यपटुता नहीं है। हम आपकी आज्ञा के अनुसार उनके स्थान पर संजय जी को रखने को तैयार हैं। इस पर भी हम यह जानने की इच्छा रखते हैं कि हमको क्या करना होगा ?"

"हां! बताइये संजय जी! मान लीजिये कि आपको कुरु-राज्य का महामंत्री पद मिल गया है। बताइये, इनसे आप क्या आशा करते हैं ?"

"एक प्रकार से मैंने बता दिया है कि यम-नियमों का स्वयं पालन करना और प्रजा से पालन कराना राजा का मुख्य कर्तव्य है।"

"परन्तु यह निर्णय कौन करेगा कि हमारा अमुक कार्य किसी यम अथवा नियम के विपरीत है ?"

"धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए भगवद्-परायण धर्म-शास्त्रियों की सम्मति ली जानी चाहिए। राजा लोग उस निर्णय में हस्तक्षेप न करें।"

"भगवद्-परायण धर्मशास्त्री कौन ढूंढेगा ?"

"इनके ढूंढने के लिए ऋषि-महर्षियों के आश्रम होते हैं। आरम्भ में मेरी सम्मति है कि महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यासजी की सम्मति से तीन व्यक्तियों की एक न्याय समिति बनाई जाये। वह समिति राज्य में प्रत्येक प्रकार के चलन पर अपनी व्यवस्था दे।"

इस पर दुःशासन कहने लगा, "तो हम राजा लोग क्या करें ?"

"आप उन व्यवस्थाओं को, जो न्याय समिति दे, चलायें।"

"अर्थात् हम सेवक बन जायें और वह न्याय-समिति यहां की राजा।" साथ ही वह हा-हा कर हँस पड़ा।

"धर्मपरायण राज्य तो ऐसे ही चलता है। राजा राज्य का सेवक होना चाहिए। वह राज्य की रक्षा के लिए नियुक्त होता है। ब्राह्मण वर्ग ही वास्तव में समाज-संचालन का कार्य करते हैं।"

"तब तो हम विचार करेंगे कि संजय जी की सम्मति से राज्य चलेगा अथवा नहीं। हम राज्य त्याग करने के लिए संजय जी को मंत्री नहीं बना सकते।" यह कहते हुए दुर्योधन उठ खड़ा हुआ।

गोष्ठी समाप्त हुई और मैं समझ गया कि इस गोष्ठी के पश्चात् दुर्योधन मेरा घोर शत्रु हो जायेगा। मैंने महाराजा और महारानी को प्रणाम किया और चला आया।

घर आकर मैंने विचार किया कि मैंने उनकी सेवा स्वीकार न करके ठीक ही किया है। परन्तु अब मैं हस्तिनापुर में रहूं अथवा न रहूं यह एक विचारणीय बात थी।

: २ :

मैंने एक पत्र सुरराज को लिखा था। मैं उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि सुरराज स्वयं निश्चय नहीं कर सके थे कि अब मेरा क्या कार्य होगा।

जिस दिन मैं गोष्ठी से लौटा था, उस दिन मैंने पुनः इन्द्र को पत्र लिख दिया और उसमें नवीन परिस्थिति का भी वर्णन कर दिया।

आजकल श्रीकान्त और शकुन्तला राज्यभवन में संगीत-नृत्य दिखाने के लिए नियुक्त हो चुके थे। एकाएक उनका राजभवन में जाना बन्द हो गया। मैं यह जानने के लिए उत्सुक था कि इनका कुछ झगड़ा हुआ है क्या ? उन्होंने वहां जाना स्वयं बन्द किया है अथवा राज्याधिकारियों ने उन्हें निकाल दिया है।

मुझको एक क्षीण-सा संदेह यह भी था कि मेरे उस दिन की गोष्ठी में सतर्क उत्तरों से क्रुद्ध होकर मेरे परिवार पर यह प्रथम आघात

हुआ है। इस पर भी किसी पुष्ट प्रमाण के बिना मैं इस विचार को मन में रख नहीं सका।

श्रीकान्त स्वयं भी मुझको इस विषय में कुछ बताने के लिए नहीं आया। इस पर श्रीकान्त और युवराज के झगड़े की चर्चा दिन-प्रतिदिन अधिक होती गयी। श्रीकान्त वेश्याओं के कटरे में रहता था। वहां पर से विख्यात हो यह बात धनी-मानी लोगों की चर्चा का विषय बन गयी।

एक सेठ जिसका लड़का मुझसे कभी न्याय-दर्शन पढ़ने आया करता था, मुझको राजपथ पर घूमता हुआ मिल गया। उसने मुझको सम्बोधन कर पूछा, "यह श्रीकान्त की क्या चर्चा विख्यात हो रही है?"

"क्या हो रही है सेठजी! मैं तो इस विषय में कुछ नहीं जानता?"

"सुना है श्रीकान्त और शकुन्तला को राज-प्रासाद में घुसने पर प्रतिबन्ध लग गया है?"

"कब से?"

"प्रतिबन्ध लगे तो दो मास हो चुके हैं। परन्तु इसका कारण अब ज्ञात हुआ है।"

"क्या कारण ज्ञात हुआ है?" मैंने अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा, "श्रीकान्त ने यह राज-कार्य मेरी अनुमति के बिना स्वीकार किया था। यही कारण है कि वहां पर झगड़ा हुआ है, और वह मुझको बताने नहीं आया।"

"अब तो यह बात नगर-भर में फैल गयी है कि शकुन्तला से दुःशासन कुछ अनुचित सम्बन्ध बनाना चाहता था। शकुन्तला नहीं मानी। इसलिए उनको वहां से निकाल दिया है। साथ ही उनके वेतन के सहस्रों स्वर्ण रोक दिए हैं।"

"ऐसा तो होना ही था। अधर्मी राजा के राजभवन में ऐसा होना कोई आश्चर्य करने की बात नहीं है। मुझे इस विषय में कोई रुचि नहीं है।"

"परन्तु हमको तो रुचि है। पंडितजी! आज एक नर्तकी से किये वचन-पत्र की अवहेलना हो रही है, कल को एक व्यापारी से किए

वचन-पत्र को भी रद्द किया जा सकता है।

"श्रीकान्त ने महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख प्रार्थना की है। वहां से अभी कोई उत्तर नहीं मिला। हम व्यापारी जो सेना के खाने-पीने के लिए लाखों स्वर्ण की रसद प्रतिमास भेजते हैं, एक प्रार्थना-पत्र महाराज के पास भेजने वाले हैं।"

"क्या प्रार्थना करेंगे?"

"यही कि जब भी किसी नागरिक और राज्य में झगड़ा हो तो उसके लिए कोई निष्पक्ष न्यायकर्ता होना चाहिए, जो निर्णय करे।"

"कब करने वाले हो?"

"दो-चार दिन में यह प्रार्थना-पत्र तैयार हो जायेगा। हस्तिनापुर के लगभग सभी बड़े-बड़े व्यापारी जो सेना में अथवा राज-प्रासाद में सामान भेजते हैं, उस पर हस्ताक्षर कर रहे हैं।"

"भाई! तुम्हारी मांग तो न्यायसंगत है। परन्तु इसके माने जाने की कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती।"

"तब हम यह राज्य छोड़ इन्द्रप्रस्थ चले जायेंगे। सुना है वहां का व्यापार प्रगति कर रहा है।"

"हां, सुना तो मैंने भी है।"

बात समाप्त होने पर मैं नमस्कार कर जाने लगा तो सेठ ने पुनः बुला लिया और कहा, "यदि महाराज के पास हम ऐसे झगड़ों के निबटारे के लिए आपको न्यायकर्ता नियुक्त करने की प्रार्थना करें तो आप क्या स्वीकार कर लेंगे?"

"मुझे विश्वास है कि मुझको नियुक्त नहीं किया जायेगा।"

"देखेंगे।" इतना कह वह चला गया।

मैंने शकुन्तला के विषय में पूर्ण समाचार जानने के लिए, घर पहुंचते ही सेवक को भेज श्रीकान्त को बुला लिया।

श्रीकान्त अगले दिन प्रातःकाल आया। उसके साथ शकुन्तला और उनकी माँ कमल लोचना भी थी। मैंने तो केवल श्रीकान्त को बुलाया था। इन सबको देखकर मैं बात करने में संकोच अनुभव करने लगा।

परन्तु बात शकुन्तला ने स्वयं ही कर दी। उसने कह दिया,

"पिताजी, हमने आपकी बात नहीं मानी, उसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा नगर में रहना भी कठिन हो गया है।"

"क्या बात नहीं मानी और नगर में रहना क्यों कठिन हो रहा है ? शकुन्तला बेटी ! क्या बात है ?"

"तो आपको विदित नहीं है ?"

"क्या विदित नहीं ?"

"आपने इनको किसलिए बुलाया है ?"

"इससे मिले बहुत दिन हो गये थे।"

"इस पर भी मैं आपको एक दुर्घटना बताने के लिए मन को तैयार करके आई हूं। यह तो आपको विदित ही है कि हमने राजभवन में नित्य संगीत-नृत्य प्रदर्शन का कार्य, छः सहस्र स्वर्ण प्रतिमास पर, स्वीकार किया था। वचन-पत्र पर इनके तथा मंत्रि कणिक के हस्ताक्षर थे। कणिक अब निकाल दिया गया है। राजकुमारों का कहना है कि वह मूर्ख था। उसमें कार्यपटुता नहीं थी। एक मास के लगभग हमने कार्य किया। प्रथम मास का वेतन लेने के लिए हम गये तो दुःशासन, जो राजभवन के कर्मचारियों का वेतन वितरण करता है, हमसे अपने निजी आगार में मिला। मुझको वचन-पत्र के अतिरिक्त कार्य करने को कहने लगा तो मैंने इन्कार कर दिया। परस्पर भारी वाद-विवाद हुआ। छीना-झपटी भी हुई और हम कठिनाई से अपनी जान बचाकर भाग आये।

"उसके पश्चात् न तो हमको वह कार्य करने की स्वीकृति मिली, जिसके लिए हमें नियुक्त किया गया था और न ही हमारा वेतन मिला।

"हमने कई पत्र लिखे हैं। उनका कोई उत्तर नहीं आया। हमने अब महाराजा धृतराष्ट्र के पास अपना प्रार्थना-पत्र भेजा है। हमारे साथ व्यवहार की तथा इन सब प्रार्थनाओं की चर्चा व्यापारी-वर्ग में होने लगी है। हमने एक विशाल आन्दोलन खड़ा कर दिया है। व्यापारी-वर्ग एक प्रार्थना-पत्र महाराज की सेवा में देने को तैयार हो गया है।"

"यह सब ठीक है शकुन्तला !" मैंने गम्भीर भाव बनाकर कहा,

"पर यह सब कर अपने यहां रहने में तुम बाधायें खड़ी कर रही हो। मेरी बात सुनो ! यहां अधर्म का राज्य चल रहा है। जितना उससे तटस्थ होकर रहोगी, सुखी रहोगी। उसके लिए तुम निर्धनता का जीवन व्यतीत करन के लिए तैयार हो जाओ।"

शकुन्तला इसका अर्थ नहीं समझ सकी। वह आश्चर्यवत् मेरा मुख देखती रह गयी। मैंने बात बदल दी, "अपने गृह में शिक्षण-कार्य कैसा चल रहा है ?"

"ठीक चल रहा है। रात की सभाओं में उपस्थिति दुगुनी हो गयी है। लोग यह देखने के लिए आते हैं कि वह कौन नर्तकी है जिसने राजकुमार के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया है।"

"यह तो अति भयानक परिस्थिति है।" मेरा कहना था।

"क्या भयानकता है इसमें ?"

"लोग तुम्हारे नृत्य को देखने नहीं आते, प्रत्युत तुम्हारे सौन्दर्य को निरखने आते हैं। उस सौन्दर्य के ग्राहक भी पैदा हो जायेंगे और कदाचित् वे तुम्हारे मन में अपने रूप पर अहंकार उत्पन्न कर देंगे। अहंकार को नरक का एक मूल कारण माना जाता है।"

इस भेंट के एक सप्ताह के अन्दर ही मुझको महाराज धृतराष्ट्र का विशेष प्रतिहार बुलाने चला आया। मैं महाराज की सभा में उपस्थित हो गया। महाराज के पास उस समय न्याय-मंत्री सुशोधन बैठा था। मैं समझ गया कि श्रीकान्त के विषय में ही बात चल रही है। मैंने नमस्कार किया तो महाराज ने मुझसे बैठने के लिए कहा।

मैं बैठा तो महाराज ने कहा, "संजय जी, आपके सुपुत्र श्रीकान्त ने बहुत भारी झगड़ा खड़ा कर दिया है।"

"महाराज !" मैंने बात को बीच में ही काटकर कहा, "श्रीकान्त मेरा लड़का नहीं है। वह मेरी देव-पत्नी उर्मिला का किसी देवता से पुत्र है। वह जो भी कार्य कर रहा है, मेरी अनुमति से नहीं कर रहा। उसने राजभवन में जो सेवा स्वीकार की थी, वह मेरी रुचि के विपरीत स्वीकार की थी। इस समय जो कुछ वह कर रहा है, मुझे उसका कुछ भी ज्ञान नहीं है।"

"सुशोधन जी !" महाराज ने न्यायमंत्री से कहा, "संजय जी को

पूर्ण परिस्थिति से अवगत करा दो।"

इस पर सुशोधन बताने लगा, जो मुझे पहले ही विदित था। उसने दु:शासन को शकुन्तला पर बलात्कार करने की घटना का भी उल्लेख किया। मुझे इस बात की प्रसन्नता थी कि शकुन्तला ने सत्य घटना का वर्णन ही किया था।

सुशोधन ने उस घटना में दु:शासन की ओर से स्पष्टीकरण इस प्रकार किया—"राजकुमार यह समझते थे कि वेश्याओं के कटरे में रहने वाली नर्तकी को यह ज्ञान होना ही चाहिए कि उसको मिलने वाले मूल्य में उसके सुन्दर शरीर का भी मूल्य है। अत: राजकुमार छः सहस्र स्वर्ण देकर यह समझे थे कि उनको उसके शरीर के भी प्रयोग का अधिकार है।

"जब शकुन्तला नहीं मानी और दु:शासन ने उसको बलपूर्वक अपनी शय्या पर ले जाने का प्रयत्न किया तो उसने राजकुमार के मुख पर चपत मारी, नाख़ूनों और दातों से उनको नोचा। श्रीकान्त ने राजकुमार को पकड़ लिया और शकुन्तला वहां से भाग गयी।"

मुझे इस घटना का विवरण सुन और भी हर्ष हुआ। परन्तु मैंने हर्ष को भीतर ही भीतर छुपाकर रखा और गम्भीर हो न्यायमंत्री की बात सुनता रहा। सुशोधन ने आगे बताया—

"जब राजकुमार को छः सहस्र स्वर्ण के प्रतिकार में अपना अधिकार नहीं मिला तो उन्होंने वह स्वर्ण देने से न कर दी। इस पर श्रीकान्त और शकुन्तला की ओर से पत्र पर पत्र आने लगे। अब उन्होंने महाराज के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा है। वे चाहते हैं कि उनसे हुए वचन का पालन किया जाये।"

जब न्यायमंत्री का वक्तव्य समाप्त हुआ तो महाराज कहने लगे, "श्रीकान्त की मांग मिथ्या है। उसने वचन-पत्र में वर्णित नर्तकी का कार्य पूर्ण नहीं किया। अत: उसको वेतन पाने का अधिकार नहीं है।"

मैं अब भी चुप रहा। इस पर महाराज ने मुझसे पूछ लिया, "आप क्या समझते हैं संजय जी?"

"मैं वचन-पत्र देखे बिना कुछ नहीं कह सकता।"

इस पर न्यानमंत्री ने अपने सामने रखे पत्रों में से ढूंढकर वचन-

पत्र मुझको पढ़ने के लिए दे दिया। उसमें लिखा था—

"इस वचन-पत्र द्वारा श्रीकान्त और उसकी पत्नी शकुन्तला यह वचन देते हैं कि वे, जब भी युवराज कहेंगे, जहां भी कहेंगे और जिस किसी के सामने भी कहेंगे, अपने नृत्य और संगीत का प्रदर्शन करेंगे।"

शेष अंश वेतन इत्यादि के विषय में था। मैंने इसको पढ़कर कहा, "महाराज ! इस पत्र में वासना-तृप्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा।"

इसका उत्तर न्यायमंत्री ने दिया, "नृत्य तथा संगीत दिखाना वासना उभारने और तृप्ति का सूचक है।"

"वासना आंखों की और श्रोत्र इन्द्रियों की। अन्य इन्द्रियों की वासना के विषय में कुछ नहीं है।"

"नर्तकियां जानती हैं कि नृत्य और संगीत का क्या अर्थ होता है। शकुन्तला भी एक वेश्या की लड़की होने के नाते यह बात समझती होगी, यह विश्वास किया गया था। अतः हम तो व्यवस्था देने वाले थे कि श्रीकान्त आदि की प्रार्थना रद्द कर दी जाये।"

"तो महाराज ! कर दी जाये। मुझे इस निर्णय पर न शोक होगा न हर्ष। मैं अपने को इससे सर्वथा अलिप्त मानता हूं।"

"परन्तु श्रीकान्त ने एक अन्य झगड़ा खड़ा कर दिया है। उसने नगर के सेट्ठियों को भड़काकर राज्य के विरुद्ध करने का यत्न कर दिया है।"

"क्या यत्न किया है महाराज !"

"सेट्ठियों का प्रार्थना-पत्र सुन लो।"

न्यायमंत्री ने एक अन्य पत्र उठाकर पढ़ना आरम्भ कर दिया। उसमें श्रीकान्त के विषय में लिखा था। उनका कहना था—

"श्रीकान्त और नर्तकी शकुन्तला से वचन-पत्र के अतिरिक्त मांग की गयी है। हम भी जब किसी नर्तकी का संगीत सुनने के लिए जाते हैं तो नृत्य-संगीत के शुल्क के अतिरिक्त देकर ही, उससे अधिक कुछ की मांग करते हैं। उस अधिक को नर्तकी स्वीकार भी कर सकती है और अस्वीकार भी।

"इस विषय को हम राज्य में धर्म के चलन की परीक्षा का विषय समझते हैं। यदि इसमें शकुन्तला के साथ न्याय न हुआ तो हम

समझेंगे कि इस राज्य से धर्म लुप्त हो गया है। हम राज्य के साथ किसी प्रकार का व्यवहार रखने में अपने को असमर्थ पाएंगे।"

आगे चलकर मेट्ठियों के प्रार्थना-पत्र में लिखा था—"इस विषय में, अर्थात् श्रीकान्त और शकुन्तला के विषय में, हम किसी निष्पक्ष व्यक्ति को जो धर्म के तत्त्व को समझता हो, न्याय करने के निमित्त नियुक्ति की मांग करते हैं। हम यह भी चाहते हैं कि भविष्य में उन झगड़ों का निबटारा करने के लिए, जिनमें एक पक्ष राजा का हो और एक पक्ष प्रजा का कोई सदस्य हो, एक अतिरिक्त निष्पक्ष व्यक्ति की नियुक्ति हो और उसका निर्णय राज्य को भी मान्य हो।

"हमारा प्रस्ताव है कि इस समय हमारे नगर में महर्षि संजय जी एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर प्रजा के सदस्यों को विश्वास है। उनसे भी अधिक विश्वास हमें महर्षि व्यास जी पर है।

"इनमें से किसी की, इस कार्य के लिए नियुक्ति हो जानी चाहिए। अन्यथा यह मान कि कुरु-राज्य में अब धर्म-व्यवस्था नहीं रही, यहां रहना कठिन हो जायेगा।"

जब यह प्रार्थना-पत्र पढ़ा जा चुका तो धृतराष्ट्र ने कहा, "हम इसको विद्रोह मानते हैं। प्रजागण, विशेष रूप से ये सेट्ठी, अब हमको आंखें दिखाने लगे हैं।"

मैं चुपचाप सुनता रहा। कुछ समय उपरान्त धृतराष्ट्र ने पूछा, "संजय जी! बोलते क्यों नहीं? हम आपकी इस विषय में सम्मति मांगते हैं।"

"महाराज! आपने तो व्यवस्था दे दी है। उस व्यवस्था के पश्चात् कुछ पूछने को रह गया है क्या? मैं भला कैसे कह सकता हूँ कि यह व्यवस्था गलत है।"

मेरी युक्ति को सुन धृतराष्ट्र ने गम्भीर हो कहा, "हम यही जानना चाहते थे कि हमारा विचार ठीक है अथवा नहीं?"

"महाराज, जहां तक श्रीकान्त का विषय है, मैं उस विषय में अपनी सम्मति नहीं देना चाहता। यद्यपि वह मेरा लड़का नहीं तो भी बीस वर्ष तक वह मेरे ही घर पर रहा है। अतः मेरे कथन को निष्पक्ष नहीं माना जायेगा।

"जहां तक सेट्ठियों की मांग का प्रश्न है, मैं इसको उचित मानता हूं। आपको स्मरण होगा कि उस गोष्ठी में, जिसमें अंगराज कर्ण से विवाद हुआ था, मेरा यही मत था कि सर्वोच्च न्यायाधिकारी राज्य से स्वतंत्र किसी ऋषि-महर्षि द्वारा नियुक्त व्यक्ति होना चाहिए। राज्य को उन न्यायाधिकारियों के निर्णय मान्य होने चाहिएं।"

"एक बात करिये।" महाराज ने कह दिया, "आप श्रीकान्त को कहकर राज्य के साथ समझौता करा दीजिये।"

"राज्य श्रीकान्त से क्या चाहता है ?"

"राज्य चाहता है कि केवल नृत्य-संगीत के लिए एक सहस्र स्वर्ण पर्याप्त है।"

"मैं प्रयत्न करूंगा कि श्रीकान्त और राज्य में कोई झगड़ा न रहे।"

"यही हम आपसे आशा करते थे। वे हमारे आपसे प्राचीन सम्बन्ध का ध्यान कर परस्पर झगडा नहीं होना चाहिए।

"शेष रही सेट्ठियों की बात। जब श्रीकान्त से समझौता हो जायेगा, तो वे भी शान्त हो जायेंगे।"

"ठीक है, मैं अपने भाग का कार्य, जो महाराज ने नियत किया है, पूरा करने का यत्न करूंगा। मैं आशा करता हू कि महाराज की आज्ञा का श्रीकान्त पालन करेगा।"

: ३ :

मैं राज-प्रासाद से निकला तो नगर के बीस से ऊपर प्रमुख सेट्ठी प्रासाद के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे। उनको यह पता चल गया था कि मैं महाराज से मिलने के लिए आया हूँ। उनका यह भी अनुमान था कि मैं उनकी प्रार्थना पर बातचीत करने ही गया था।

मेरे द्वार से निकलते ही वे मुझको घेरकर खडे हो गये और पूछने लगे, "संजय जी ! क्या हुआ है ?"

"मेरे घर पर चलिये ! वहां विस्तार से बताऊंगा।"

अतः वे सब अपने रथों पर सवार हो मेरे घर की ओर चल पड़े। मेरे पास मेरा अपना रथ था। मैं उसमें घर पहुंच गया। घर पर

पहुंचकर मुझे पता चला कि नारद जी मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं समझ गया कि वे इन्द्र का संदेश लेकर आये होंगे।

नारद जी से मिलने से पूर्व मैं नगर के सेट्ठियों से बातचीत कर लेना चाहता था। मैंने उनको यह बताया, "महाराज आप सबके घोर विरोधी प्रतीत होते हैं। वे श्रीकान्त के साथ तो समझौता करने के लिए तैतार हैं परन्तु आपको वे विद्रोही समझते हैं और आपकी प्रार्थना का वह कोई उत्तर नहीं देना चाहते।"

"श्रीकान्त के साथ क्या समझौता करना चाहते हैं?"

"वे चाहते हैं कि श्रीकान्त एक सहस्र स्वर्ण लेकर अपनी मांग वापस ले ले।"

"श्रीकान्त क्या करेगा?"

"मैं उससे पूछे बिना कुछ नहीं बता सकता।"

"आप उसको क्या सम्मति देना चाहते हैं?"

"मेरी सम्मति तो पहले ही दी जा चुकी है। अभी तक उसने मानी नहीं। मैंने उसको कहा था कि इस देश के राजा के साथ किसी प्रकार का व्यवहार न करो। साथ ही मैं यह चाहता हूं कि वह और उसकी पत्नी कला-प्रदर्शन का कार्य छोड़ दें। अभी तक उन्होंने मेरी बात को स्वीकार नहीं किया। कदाचित् वे सब बातें जो महाराज ने मुझसे कही हैं, सुनकर वह मेरी सम्मति स्वीकार कर लें।"

"आप हमको क्या सम्मति देते हैं?"

"मेरी सम्मति आपके लिए भी वही है जो मैंने श्रीकान्त को दी है। यहां के राज्य के साथ किसी प्रकार का व्यवहार रखना कल्याण-कारी नहीं हो सकता।"

"तो कुछ आशा नहीं?"

"क्या आशा लगाये हुए थे आप?"

"हम यह आशा लगाये हुए थे कि विशेष अवस्था में न्यायाधिकारी राज्य से पृथक् कोई व्यक्ति हो।"

"वह तो नहीं हुआ। कदाचित् यहां होगा भी नहीं।"

इस पर सब सेट्ठी मुख लटकाये हुए चले गये। सब अपने सामर्थ्य के अनुसार अपना भविष्य निर्माण करना चाहते थे। इस विषय में

सब सहमत थे कि राज्य से उनको अब न्याय नहीं मिल सकता।

सेट्ठियों को विदा कर मैं नारद जी, जिन्हें उर्मिला ने गृह के भीतर मेरे निजी आगार में बैठाया हुआ था, से मिला। नारद जी ने उर्मिला से कहा था कि वह अपना यहां आना गुप्त रखना चाहते हैं। इस पर उर्मिला ने उनको गृह के भीतर ठहरा दिया।

मैं जब उनके सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्होंने कहा, "मैं इन्द्रप्रस्थ में पांडवों की अवस्था देख लौट रहा था। विचार आया कि आपसे भी बातचीत करता चलूं।"

"मुनिवर! क्या देखा है इन्द्रप्रस्थ में?"

"राज्य उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। युधिष्ठिर बहुत ही योग्य शासक है। प्रजागण उससे प्रसन्न हैं। वहाँ पर कर कम हैं। इस कारण दूर-दूर से लोग वहां आकर बस रहे हैं।

"मेरा वहां गमन किसी अन्य कारण से था। पांचों भाई द्रौपदी पर मुग्ध हैं और उसकी संगत के लिए लालायित रहते हैं। इस बात के दुष्परिणामों से उनको बचाने के लिए मुझको वहां जाना पड़ा था।

"एक राज्य में दो राजा नहीं रह सकते। इस प्रकार एक पत्नी के एक से अधिक पति कठिन समस्या थी। विशेष रूप में जबकि पत्नी अति सुन्दर हो। जितना पतियों का प्रेम पत्नी के लिए उग्र होगा, उतना ही भयंकर वैमनस्य परस्पर होने की सम्भावना थी।

"मैं उनमें एक समझौता करा आया हूं। उनकी माता को इसमें साक्षी बना आया हूँ।"

"क्या समझौता करा आये हैं?"

"मैं यह निश्चय करा आया हूं कि द्रौपदी एक-एक वर्ष तक बारी-बारी से एक-एक भाई के पास रहेगी। प्रथम अधिकार युधिष्ठिर को मिलेगा, द्वितीय भीम को। इसी प्रकार अर्जुन, नकुल और सहदेव को।"

"वे मान गये हैं क्या?"

"हां और यह निश्चय हो गया है कि एक के काल में यदि दूसरा कोई रात के समय उसके शयनागार में जायेगा तो वह बारह वर्ष तक वनवास पायेगा।"

"दंड तो अति कठोर निश्चय किया है।"

"अन्यथा हमारी पूर्ण योजना ही विफल हो रही थी। पांडव धर्म-परायण हैं, श्रेष्ठ और सरल-चित्त हैं। इस पर भी वे एक ही पत्नी पर आसक्त होने से किसी भी दिन उसके लिए लड़ सकते थे।"

"तो आपका विचार है कि अब वे वचनबद्ध रहेंगे ?"

"हां ! इसका विश्वास होता है।"

"और क्या समाचार है ?"

"कृष्ण बलराम इन्द्रप्रस्थ में आये थे और कृष्ण की अर्जुन से अटूट मैत्री हो गयी है। यूं तो पांडव कृष्ण की बूआ के लड़के हैं। इस पर भी मैत्री तो सम्बन्धी होने से कुछ अधिक बात ही माननी चाहिए।"

"कृष्ण के वहाँ जाने से इन्द्रप्रस्थ के विस्तार की कई योजनायें बनी हैं।"

"यहां तो प्रजा में असन्तोष फैल रहा है।"

"यह स्वाभाविक ही है। यहां के राजा राज्य को अपनी वपौती मानते हैं। वे यहां के लोगों को सेवक मात्र मानते हैं। जहां सैनिक-बल से राज्य चलता है, वहां के राजाओं की मति भ्रष्ट हो जाती है। इससे राज्य की प्रतिष्ठा कम होने लगती है।

"राज्य की प्रथम आवश्यकता यह है कि प्रजा को राज्य में कल्याण दिखाई दे। प्रजा के मन में यह विश्वास बैठ जाना चाहिए कि राज्य के बिना सुख और शान्ति से रह नहीं सकेगी। इस विश्वास के परिणामस्वरूप ही प्रजा कर देती है।"

मैंने नारद जी से पूछ लिया, "मुझे अब हस्तिनापुर में रहना चाहिए अथवा इन्द्रप्रस्थ में ?"

"तो इन्द्र ने आपको कोई संदेश नहीं भेजा ?"

"अभी तक तो कोई आज्ञा नहीं आई।"

"जब तक वह अपनी इच्छा प्रकट नहीं करते, यहां ही रहना चाहिए। आपके लिए यह निश्चय किया गया है कि आपने पांडवों की रक्षा का उपाय करना है। उनके अनिष्ट की सम्भावना कौरवों से ही है। अतः मेरे विचार में आपका यहां रहना और कौरवों की गति-विधियों से परिचित रहना आवश्यक है।"

"मैं समझता हूं कि पांडवों को सन्मार्ग पर आरूढ़ रखना भी

एक कार्य है। राज्य पा लेने के बाद उनमें लोभ, मोह, अहंकार की उत्पत्ति की सम्भावना बनी रहेगी है। इसलिए उनके समीप भी कोई मार्ग-दर्शक होंना आवश्यक है।"

"यह भी हो जायेगा।"

इस प्रकार मेरा भावी कार्यक्रम निश्चित हो गया। नारदजी हस्तिनापुर में दो दिन रहे। वे दिन भर घूमते रहते थे। जहां वे नगर के कुछ प्रमुख सेट्ठियों से मिले, वहां राज-परिवार के सदस्यों से भी मिले। भीष्म पितामह से लेकर दुर्योधनादि सभी से वे मिले।

जब वे धृतराष्ट्र से मिलने गये, तो घटनावश मैं वहीं पर था।

मैंने श्रीकान्त को उसी दिन बुलाकर महाराज धृतराष्ट्र से अपने वार्तालाप का परिचय करा दिया। श्रीकान्त महाराज की इच्छा जान बहुत निराश हुआ। मेरे समझाने पर उसने एक पत्र महाराज के नाम लिख दिया। उसमें उसने लिखा—

"महाराज की आज्ञा अपने पिताजी के द्वारा मुझको मिली है। जब राज्य किसी कार्य के औचित्य पर विचार न कर सौदेबाज़ी पर उतर आये, तब उसमें भले व्यक्तियों का कार्य यही रह जाता है कि वे राज्य को मनमानी करने दें। स्वयं पीछे हट जायें। अतः मैंने यही निर्णय लिया है कि मैं राज्य से अपनी मांग वापस लेता हूं। मुझको राज्य से कुछ भी लेना-देना नहीं है। मैंने जो कुछ कष्ट आपको दिया है, उसके लिए क्षमा मांगता हूं।"

इस पत्र के साथ ही श्रीकान्त ने वह वचन-पत्र जो उसका राज्य के साथ हुआ था, वापस भेज दिया। उसने लिखा—"मैं यह वचन-पत्र भी श्रीमान् की सेवा में भेज रहा हूं। अर्थात् अब मैं इस कार्य पर नहीं रहा।"

यह पत्र जब धृतराष्ट्र के पास पहुंचा तो मुझको बुलाया गया। मैं गया तो नारदजी पहले ही वहां विराजमान थे। नारदजी के आंख के संकेत से मुझको उनके विषय में अनभिज्ञता प्रकट करने की बात समझा दी। अतः मैंने महाराज को प्रणाम किया और नारदजी को भी प्रणाम कर कह दिया, "मुनिवर! कब पधारे हैं यहां?"

"कल आया था और कल चला जाऊंगा।"

इस पर धृतराष्ट्र ने कह दिया, "मुनिवर यहां आये हैं और अपनी अपार कृपा से हमको उपदेश दे रहे हैं। इनका कहना है कि हमें कोई धर्म-व्यवस्था को समझने वाला व्यक्ति महामंत्री नियुक्त करना चाहिए। मैंने इनसे आपके विषय में पूछा है। इनका कहना है कि हम आपको रख नहीं सकते ? मैंने इनसे पूछा है कि क्यों नहीं रख सकते। इस समय आप आ गये हैं।"

"तो महाराज ! मैं अभी चला जाता हूं जिससे इनको मेरे गुण-दोष बताने में संकोच न हो। फिर जब आज्ञा हो, आ जाऊंगा।"

"हां ! यदि मुनिवर आपसे छिपाकर कुछ बताना चाहते हैं तो मैं भी यही उचित समझूंगा।"

इस पर मैं उठ खड़ा हुआ। परन्तु नारदजी ने कह दिया, "संजय जी, आप बैठिये। कोई लुकाव-छिपाव की बात नहीं है। मैं आपके सामने ही अपने मन की बात बता देता हूं।

"सुनिये ! मैं यह कह रहा था कि संजय जी को मंत्री-पद पर रख नहीं सकेंगे। उसमें कारण यह है कि आपके और इनके मस्तिष्क में राज्य की कल्पना में भारी मत-भेद है।

"संजय जी ने राजनीति पढ़ी है अपने पिता के आश्रम में। वहां राजनीति का आधार वेदानुकूल धर्म है। उस राजनीति में राजा केवल प्रजा का एक प्रमुख सेवक मात्र रह जाता है। उसको अपने पूर्ण कर्त्तव्य इसकी आधार पर निश्चय करने पड़ते हैं।

"एक सेवक का पथ-प्रदर्शक होना आवश्यक है। प्रजा, जिसका राजा सेवक है, नाना प्रकार के व्यक्तियों का एक समूह होती है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के, स्वभाव के, आचरण और योग्यता के लोग सम्मिलित होते हैं। पूर्ण प्रजा को यदि स्वामी मान राजा कार्य करे तो वह न कोई कल्याण का कार्य कर सकता है न ही किसी निश्चित दिशा में चल सकता है। अतः प्रजा के उस भाग को ही उसे अपना मार्ग-दर्शक बनाना पड़ता है जो पढ़ा-लिखा, धर्म के रहस्य को जानने वाला, सद्चरित्र और संतुलित बुद्धि रखने वाला हो। प्रजा के इस वर्ग को ही हम ब्राह्मण कहते हैं।

"ब्राह्मणों का निर्माण राजा अथवा राज्य नहीं कर सकता। राजा

अथवा राज्य तो राज्य के सेवक निर्माण करने में ही योग्य है। अतः ब्राह्मण, जो राज्य तद्रूप राजा के पथ-प्रदर्शन करने में योग्य हो, उनका निर्माण ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही कर सकते हैं।

"यह है संजय जी की राजनीति का आधार। परन्तु महाराज, आपके परिवार की राजनीति इससे भिन्न है। जब से आपके वंश का राज्य हुआ है, तब से कोई इक्का-दुक्का राजा छोड़कर, सब नरेश राज्य को राजा की सम्पत्ति ही मानते रहे हैं। आपके वंश में शान्तनु, भीष्म, आप स्वयं और फिर दुर्योधनादि राज्य को प्रजा का न मान अपना मान रहे हैं।

"इसी कारण संजयजी आपके राज्य में मंत्री पद नहीं ले सकते और यदि भूल से ले भी लिया तो शीघ्र ही झगड़ा आरम्भ हो जायेगा। इस पर या तो आप उनको मृत्यु-दंड देंगे अथवा वह सब कुछ छोड़ यहाँ से भाग जायेंगे।"

"मुनिवर!" धृतराष्ट्र ने एक विचार उपस्थित कर दिया, "मानते तो हम भी वही हैं जो आप मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आप प्रजा के ब्राह्मण वर्ग को मार्ग दर्शक समझते हैं और हम समाज के क्षत्रिय वर्ग को मार्ग-दर्शक मानते हैं। जैसे हम ब्राह्मण निर्माण नहीं कर सकते, वैसे ही हम मानते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय निर्माण नहीं कर सकते।"

नारदजी हँस पड़े। हँसकर उन्होंने कहा, "महाराज ने यथार्थ बात ही कही है। वास्तव में मेरे और आपके कथन में शब्दों का भेद है, भाव का नहीं।

"मेरा निवेदन यह है कि यदि आप समझते हैं कि क्षत्रिय वर्ग के लोग राजा का पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं तो आप क्षत्रिय वर्ग में से ही किसी को मंत्री नियुक्त कर लीजिये।"

"एक तो दुःशासन योग्य क्षत्रिय है। दूसरे अंगराज कर्ण हैं। वास्तव में ये दोनों मंत्री का कार्य कर भी रहे हैं।"

"तब तो, आपको संजय जी को मंत्री पद पर नियुक्त करने की आवश्यकता ही नहीं।

"साथ ही महाराज ने यह बताया है कि क्षत्रिय वर्ग का निर्माण

क्षत्रिय ही कर सकते हैं तो फिर अन्य मंत्रियों का निर्वाचन भी राजा करने में योग्य है।"

धृतराष्ट्र चुप रहा। नारदजी ने बात बदल दी। उन्होंने कहा, "महाराज, आपके बलराम कृष्ण से कैसे सम्बन्ध हैं?"

"किस अर्थ से पूछ रहे हैं मुनिवर!"

"उदीयमान सूर्य को सब नमस्कार करते हैं। इस समय भारत के आकाश पर कृष्ण नाम का सूर्य उदय हो रहा है। आपको उससे सम्बन्ध बनाना चाहिए।"

: ४ :

नारदजी तीसरे दिन जाने लगे तो बोले, "संजयजी! अब युद्ध के लिए क्षेत्र तैयार हो गया है। एक ओर हस्तिनापुर होगा और दूसरी ओर इन्द्रप्रस्थ। मैं इन दोनों राज्यों की परिस्थिति देखने के लिए आया था। इस निरीक्षण के उपरान्त अब इस विषय में संदेह करने में कोई कारण नहीं कि कुरु-वंश के दोनों पक्ष लड़े बिना नहीं रहेंगे।

"हमारा प्रयत्न अब यह है कि इसमें कम से कम प्राणियों की हानि हो।

"हमारी यह धारणा है कि धृतराष्ट्र के पुत्रों का राज्य हटाकर पांडवों के पुत्रों का राज्य होगा। पांडवों को मंत्रणा देने वाला कृष्ण होगा।

"यूं तो वृष्णि-वंश तथा भोजवंश ऐसी भूमि है, जहां फूलों के स्थान पर कांटे अधिक हो रहे हैं। मैं पिछले वर्ष द्वारिका गया था। वहां कृष्ण की अवस्था वैसी हो रही है, जैसे घर का जोगी जोगना। उसको अपनी एक योजना स्वीकार कराने में वर्षों वाद-विवाद में व्यय करने पड़ते हैं।

"वह गण-राज्य है और वहां पर लाखों बसने वाले अपने को बुद्धिमान और नीतिज्ञ मान, राज-कार्य में अनधिकार हस्तक्षेप करते हैं। यह कृष्ण की योग्यता ही है कि वह सबको अपने साथ रखकर भी प्रगति के पथ पर अग्रसर होते जाते हैं। इस पर भी उनका मार्ग प्रायः विकृत होता ही रहता है। यही कारण है कि आज पांच वर्ष हो

गये, कृष्ण को वहां गये हुए। हम तो आशा करते थे कि गुर्जर देश भारत का चक्रवर्ती राज्य बन जायेगा, परन्तु वह तो उसी तरह का जांगल्य देश है, जैसा पहले था।

"द्वारिका की शोभा कृष्ण के साथ है। उसके अतिरिक्त वहां कुछ भी दर्शनीय नहीं है।"

"तो भगवन्!" मैंने कहा, "वह नारायण का अवतार कैसा है जो अपने पुर-वासियों को भी ठीक मार्ग पर नहीं ला सकता।"

नारदजी हँस पड़े। हँसते हुए कहने लगे, "संजयजी! आप इस विषय में अभी वर्णमाला के स्वर भी नहीं समझते। तभी तो ऐसी बात कहते हैं। भगवान किसी को बलपूर्वक भले मार्ग पर नहीं लाते। वे तो केवल पथ-प्रदर्शक हैं। जो सन्मार्ग को देखकर भी आँखें मूंद ले और खाई की ओर चल पड़े, उसके लिए भगवान भला क्या कर सकते हैं।

"मैं जब कृष्ण से मिला था तो मैंने कहा था, 'भगवन्! इन यदुवंश के लोगों को भी कुछ शिक्षा दीजिये।'

"इस पर वह कहने लगे, 'मैं जब गोकुल में रहता था, तब वहाँ के ग्वाल और गोपियों को सन्मार्ग पर लाने का यत्न करता रहता था। मैं अभी बालक मात्र ही समझा जाता था। इस कारण मेरी बातों को सुन सब हँस देते थे। इसी कारण मैं उनको उनकी रुचि के कार्यों में संलग्न रखकर उन्हें पथच्युत होने से रोकता रहता था। उनके साथ गउएँ चराना, दूध दोहना, खेल-कूद, रास-लीला और जल-विहार मैं स्वयं भी करता था और उनको भी कराता था। इससे मैं उनको दूषित मार्ग पर जाने का समय ही नहीं देता था।'

"परन्तु ये सब नकारात्मक कार्य थे। बुरे मार्ग पर जाने का अवसर न मिलना एक बात है; धर्म मार्ग का अनुकरण, यह भिन्न बात है। एक बात होने से दूसरी बात हो जायेगी, वह आवश्यक नहीं।

"यही बात यहां भी हो रही है। मैं जब देखता हूं कि इनके मनमें धर्म-कर्म की महिमा नहीं, तो यह यत्न करता हूं कि इनको अधर्म की ओर जाने का अवसर ही न मिले। इनको मैं खेल-तमाशों में इतना लीन रखता हूं कि इनको अधर्म मार्ग पर चलने का अवकाश ही नहीं

रह जाता ।"

मैं इस बात को नारदजी के मुख से सुनकर भौंचक्क हो बैठा रह गया। मैं विचार करता था कि भगवान का कहा जाने वाला अवतार भी केवल वही कुछ कर सकता है जो एक पढ़ा-लिखा विद्वान करता रहता है।

नारदजी मेरे मन के संशय को जानकर कहने लगे, "में जानता हूं कि आप क्या विचार कर रहे हैं। आपके मन में असीम भगवान की सीमित शक्ति को देख निराशा उत्पन्न हो रही है। आप मन में विचार रहे हैं कि जब भगवान का अवतार भी प्रजा को सन्मार्ग पर लाने में सबल नहीं, तो हम जीवों की क्या गणना हो सकती है।

"मैं कहता हूं कि इस विषय में मेरा, अन्य वर्तमान काल के विद्वानों से मतभेद है। वे मानते हैं कि पूर्ण चराचर जगत् उस परब्रह्म परमेश्वर का रूप-रूपान्तर ही है। मैं मानता हूं कि परमात्मा के अतिरिक्त आत्मा भी है। यह आत्मा परमात्मा के आश्रय तो है, परन्तु इच्छा से स्वतन्त्र है। परमात्मा आत्मा को प्रेरणा तो दे सकता है, परंतु बलपूर्वक किसी विशेष दिशा में नहीं ले जा सकता। यही कारण है कि कभी-कभी परमात्मा की ओर से प्रबल प्रेरणा होने पर भी आत्मा उचित मार्ग पर आने को तैयार नहीं होता।

"जब तक एक आत्मा ऐसा कार्य करता है, जिसका प्रभाव किसी अन्य के लिए दुखःकारी नहीं होता, तब तक परमात्मा उस आत्मा को उसके किये कर्मों का फल भोगने के लिए छोड़े रखता है। परन्तु जब एक अथवा अनेक आत्माओं के कार्य संसार में उत्पात मचाने वाले हो जाते हैं तो वे दुष्ट आत्माओं को निस्तेज करने का प्रबन्ध कर देते हैं। कभी तो हम जैसे साधारण जीवों को प्रेरणा मिल जाती है और हम ही उनको दंड दे देते हैं। कभी जब वह कार्य हमारे मान का नहीं होता तो भगवान स्वयं अवतार लेते हैं। अवतार का अर्थ है हममें से किसी प्राणी में उनकी विशेष शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाना। वह प्राणी भगवान का अवतार कहा जाता है।"

नारदजी चले गये, परन्तु मेरे लिए बहुत कुछ विचार करने को छोड़ गये। नारदजी के जाने के कुछ मास बाद की बात है कि मुझको

पुनः धृतराष्ट्र का बुलावा आया। मैं वहाँ पहुंचा तो दुर्योधन महाराज के पास बैठा था।

बात दुर्योधन ने ही आरम्भ की। उसने कहा, "संजयजी, आपके सुपुत्र श्रीकान्त हस्तिनापुर छोड़कर इन्द्रप्रस्थ में चले गये हैं।"

"हां महाराज ! मुझको ज्ञात है। परन्तु श्रीमान् ! मैं पहले भी कह चुका हूं कि वह मेरा पुत्र नहीं है। न ही वह किसी प्रकार से मेरे अधीन है।"

"हम उसके चले जाने का दोषारोपण आप पर नहीं कर रहे। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीकान्त के पश्चात् हस्तिनापुर के बीस से ऊपर व्यापारी भी यहाँ से जा चुके हैं।"

"गये होंगे। परन्तु मैं नहीं जानता।"

"वे अपने परिवारों को और अपनी पूर्ण सम्पत्ति को यहां से ले गये हैं।"

"तो महाराज ने उनको मना नहीं किया ?"

"यह भारत की परम्परा है कि यहां एक नागरिक अपनी सम्पत्ति भूमि और स्त्री का पूर्ण रूप से स्वामी होता है। वह उसको बिना राज्य से पूछे स्थानान्तर कर सकता है।"

"तब तो महाराज ! यह कोई अनियमित बात नहीं हुई।"

"अनियमित तो नहीं, परन्तु इससे हमारे राज्य को हानि पहुँची है। हमें अपनी सेना के लिए, जो राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों पर ठहरी हुई है, डेढ़ करोड़ मन अनाज चाहिए। वे बीस व्यापारी लगभग हमें डेढ़ करोड़ मन अनाज दे ही देते थे। अब हमें नवीन व्यापारी बनाने में कठिनाई हो रही है।"

"तो भगवन् ! राज्य की ओर से कोई व्यक्ति इतना अन्न क्रय करने के लिए नियुक्त कर दिया जाये।"

"यह हमने किया है, परन्तु सफलता नहीं मिल रही। एक तो राज्याधिकारी, जानते ही नहीं कि अनाज कहां से क्रय किया जाना चाहिए, कैसा अनाज क्रय करना चाहिए, दूसरा किस भाव से क्रय करना चाहिए।"

"महाराज ! यह तो होगा ही। आरम्भ में कुछ कठिनाई अवश्य

होगी, परन्तु जब अधिकारी योग्य हो जायेंगे तो वे भी वैसा ही कार्य करने लगेंगे जैसा अनुभवी व्यापारी करता है।"

"यह तो कुछ समय उपरान्त ही हो सकेगा न ! परन्तु इस समय जो हमारी सेना के लिए भोजन सामग्री में कमी होने लगी है ?"

"यह नहीं होना चाहिए, महाराज ! आप एक रजत दाम की जगह दो रजत दे दें, परन्तु सेवक का पेट तो भरना ही चाहिए।"

"यह आज्ञा मैंने आज प्रातःकाल जारी कर दी है। परन्तु इससे तो राज-कोष ही रिक्त हो जायेगा। कर पहले ही इतने हैं कि और अधिक नहीं हो सकते।"

"तो फिर श्रीमान् क्या करना चाहते हैं ?"

"हम, धन जो सब प्रकार की सुविधाओं का स्रोत है, एकत्रित करना चाहते हैं। राज्य में धन दो ही उपायों से प्राप्त होता है। एक तो कर से, दूसरा समर से।"

"हां महाराज !"

"हम महाराज से यह विचार कर रहे थे कि कर-वृद्धि के लिए स्थान नहीं है। अतः समर होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि किस देश पर आक्रमण किया जाये ?"

"जिस देश ने आपके सम्राट होने के रूप में कर न दिया हो।"

"ऐसा तो कोई देश नहीं है।"

"तो फिर आक्रमण के लिए कोई कारण नहीं है।"

"क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई राज्य उन्नति कर रहा हो और उसकी उन्नति से भविष्य काल में, अपने देश पर आक्रमण का भय हो, तो उसको उन्नति करने से मना कर दिया जाये। वह मानेगा नहीं, तब आक्रमण कर दिया जाये।"

यह मानसिक प्रवृत्ति सुन मुझको एकलव्य की बात स्मरण हो आई। एक उन्नति करते हुए शिष्य से भयभीत हो कि वह कहीं अन्य शिष्यों से अधिक उन्नति न कर ले, उसकी उन्नति को रोकने का उपाय किया गया था। अतः मैंने कह दिया, "महाराज ! इस विषय में उचित सम्मति तो गुरु द्रोणाचार्य ही दे सकेंगे। उन्होंने एक बार पहले भी ऐसा कुछ करने की आज्ञा दी थी।"

दुर्योधन और धृतराष्ट्र एकलव्य की कथा भूल चुके थे। अतः धृतराष्ट्र ने कह दिया, "ऐसा कब हुआ था ?"

मैंने एकलव्य की कथा सुना दी और उस घटना की व्याख्या भी कर दी।

धृतराष्ट्र हँस पड़े। उन्होंने कहा, "यह द्रोणाचार्य का दोष नहीं था। यह तो एकलव्य का अपना दोष था। उसको द्रोणाचार्य को अपना गुरु मानना ही नहीं चाहिए था। इससे उसको गुरु-दक्षिणा देने की आवश्यकता ही नहीं थी।

"परन्तु संजय जी ! आप उत्तरी भारत के प्रायः सभी देशों में भ्रमण कर चुके हैं। आप बताइये कि किस देश पर आक्रमण करना चाहिए, जिसके विरुद्ध कोई बहाना भी बन सके ? साथ ही कम से कम परिश्रम से अधिक से अधिक लाभ हो।"

मैंने अब दृढ़तापूर्वक कह दिया, "महाराज ! मैं ऐसे किसी राज्य को नहीं जानता जिसमें किसी प्रकार का छिद्र निकाल सकें। युद्ध एक अति भयंकर कृत्य है। इसमें मानवों की हत्या के साथ-साथ आक्रमणकारी तथा आक्रान्ता दोनों का नैतिक पतन भी होता है। इस कारण मैं न तो किसी राज्य को किसी प्रकार इतने भयंकर दंड का भागी समझता हूं, न ही इस साधारण कार्य के लिए युद्ध क्षम्य मानता हूं।"

"तो आप हमारी कठिनाई को दूर करने के लिए क्या उपाय बताते हैं ?"

"उपाय तो है, यदि आप करना चाहें।"

"हां ! हां !! बताइये तो।" धृतराष्ट्र ने कहा।

"महाराज ! सबसे प्रथम बात तो यह है कि प्रजा पर कर कम किए जायें। दूसरे यह कि प्रजा के मन में विश्वास बैठा दिया जाये कि यहां न्याय का राज्य है। किसी के साथ भी, भले ही वह अकिंचन और अपाहिज हो, अन्याय नहीं होगा। तीसरे, राज्य-परिवार के सदस्यों का जीवन सरल, शुद्ध, पवित्र और उपयोगी हो।"

"देखिए संजयजी ! कर कैसे कम हो सकते हैं ?"

"जैसे इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर ने कम कर रखे हैं।"

"तो एक बात करिए। आप इन्द्रप्रस्थ जाइये। वहां की कर-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था को देखकर आइये। हम उसके अनुसार ही यहां पर भी व्यवस्था स्थापित करने का यत्न करेंगे।"

मैं तो स्वयं ही किसी बहाने से इन्द्रप्रस्थ जाना चाहता था। युधिष्ठिरादि को मिलने के लिए चित्त कर रहा था। अतः मैंने धृतराष्ट्र का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मैंने कह दिया, "यह बात भी ठीक है। यदि महाराज मुझको जाने के लिए कहते हैं तो मैं तैयार हूं और यथा सम्भव वहां की व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त कर ला सकता हूं।"

"परन्तु एक बात ध्यान रखने योग्य है। वह यह है कि हम नहीं चाहते कि आप वहां यह घोषित करें कि हमने आपको भेजा है। आप अपने पुत्र को मिलने के बहाने ही जा सकते हैं।"

"इस पर भी आने-जाने का मार्ग-व्यय तो आपको देना ही होगा।"

"दे दिया जाएगा।"

"मैं सपत्नीक जाऊंगा। तभी तो यह कहा जा सकेगा कि हम अपने पुत्र से मिलने के लिए आये हैं।"

"ठीक है।"

: ५ :

अतः मैं दुर्योधन की मौखिक आज्ञा पाकर इन्द्रप्रस्थ को चल पड़ा। रथ में मैं और उर्मिला थे। तीसरे दिन हम इन्द्रप्रस्थ जा पहुंचे। पांडवों को यहां आये तीन वर्ष हो चुके थे। इन तीन वर्षों में वहां बहुत कुछ नया बन चुका था।

नगर की प्राचीर बन चुकी थी। उसी प्राचीर में ऊंचे और विशाल द्वार बनाये गये थे। यह द्वार दिन-रात खुले रहते थे। मार्ग विशाल कर दिये गये थे। उन पर नवीन गृह निर्माण हो चुके थे। नगर के भीतर और बाहर पेड़ लगा दिये गये थे। नगर में स्थान-स्थान पर क्रीड़ा-स्थल और उद्यान बन गये थे।

दुकानें भिन्न-भिन्न देशों के नाना प्रकार के पदार्थों से भरी हुई थीं और क्रय-विक्रय करने वालों की भीड़ लगी थी।

मैं राज-प्रासाद में जाकर ठहरने का विचार करता था। यहां से श्रीकान्त का पता कर उससे मिलने को जाने का विचार था। द्वार पर से यह पता कर कि राज-प्रासाद किधर है, मैं चल पड़ा। मार्ग पर रथ वेग से नहीं चलाया जा सकता था। आने-जाने वालों की भारी भीड़ थी। इस कारण नगर की शोभा देखने और वहां के नागरिकों के वस्त्राभूषण तथा उनकी शारीरिक अवस्था को देख नगर की समृद्धता का अनुमान लगाने का अच्छा अवसर मिल रहा था।

पांडवों के वहां आने से पूर्व मैं कई बार इन्द्रप्रस्थ गांव से गुजर चुका था। स्थानेश्वर जाने पर यह गांव मार्ग में पड़ता था। इस नवीन नगर को देख मैं चकाचौंध रह गया।

नगर के मुख्य पथ पर एक विशाल और सुन्दर पुष्पवाटिका थी। वाटिका के द्वार पर पुष्पों की शोभा अति ललाम थी। हमारा रथ वाटिका द्वार से निकल रही भीड़ के कारण रुक गया। मैं यह देख रहा था कि पुष्प-वाटिका में जहां तक दृष्टि जाती थी, अनेकानेक रंगों के पुष्पों की क्यारियों पर क्यारियां दिखाई देती थीं। इतने में भीड़ सघन हो गयी। अब भीड़ में से सब से डेढ़ हाथ ऊंचा कुमार भीम आता दिखाई दिया। भीड़ राजकुमार भीम की जय-जयकार कर रही थी।

वाटिका के बाहर बहुत रथ खड़े थे। एक पर भीम चढ़ गया। मैंने अपने रथ के सारथी को कहा, "इस रथ के पीछे-पीछे चलो।"

उसने रथ भीम के रथ के पीछे चला दिया। कुछ दूर तक भीड़-भाड़ बनी रही, जिससे दोनों रथ धीरे-धीरे चलते रहे। फिर मार्ग साफ मिलने लगा। भीम का रथ तेज चला तो हमने भी अपना रथ तेज कर दिया।

जब दोनों रथ नगर के बाहर हुए और दुर्ग की ओर चले तो भीम ने अपने रथ के पीछे हमारा रथ देख, अपने सारथी से कुछ कहा और उनका रथ मार्ग के एक ओर होकर खड़ा हो गया। मैंने भी अपना रथ खड़ा कर दिया। मैं रथ से उतर भीम के रथ के समीप खड़ा हो नमस्कार कर, आशीर्वाद देने लगा तो भीम कूदकर अपने रथ से नीचे आया और आदर से नमस्कार कर पूछने लगा, "तात् ! छुप-

छुप कर क्यों पीछा कर रहे थे ?"

"छुप नहीं रहा कुमार! आदरयुक्त अन्तर रखता हुआ आप के साथ राज-प्रासाद को जा रहा था।

"मैं हस्तिनापुर से अभी आ रहा हूं। आप भाइयों और कुन्ती माता के दर्शनों की अभिलाषा से आया हूं। आपको उस पुष्प-वाटिका में से लोगों की भीड़ के साथ निकलता देख, आपके साथ हो गया।"

"तो आइये हमारे रथ में। आपका···

इस समय भीम की दृष्टि हमारे रथ की ओर चली गयी। उसने उर्मिला को बैठे देख पूछ लिया, "तो काकी साथ आई हैं। चलिये उनके चरण स्पर्श कर लूं।"

इतना कह भीम हमारे रथ के समीप आ बोला, "काकी! चरण वन्दना करता हूं।"

इस प्रकार हम भीम के रथ के पीछे-पीछे दुर्ग में और राजभवन में जा पहुंचे। भीम अपने सारथी को हमारे रथ की देखभाल के विषय में आज्ञा दे मुझको राज-प्रसाद में ले गया। वहां सबसे पहले वह मुझको माता कुन्ती के कक्ष में ले गया। कुन्ती ने हमको देखा, पहचाना तो उर्मिला को गले लगा मुझसे कुशल-क्षेम पूछने लगी।

उर्मिला वहां ही ठहर गयी और मैं महाराज युधिष्ठिर के आवास में पहुंच गया। युधिष्ठिर ने चरण स्पर्श किये। मैंने आशीर्वाद दिया और युधिष्ठिर को गले लगा लिया। मैं जब युधिष्ठिर के पास बैठा था, सब परिवार द्रौपदी सहित वहां एकत्रित हो गया। हस्तिनापुर की, धृतराष्ट्र, दुर्योधन और उनके भाइयों की बातें होने लगीं।

इस समय द्रौपदी के दो लड़के हो चुके थे। एक युधिष्ठिर से, जिस का नाम था—प्रतिबन्ध और दूसरा भीम से, इसका नाम था सुनसोम। इन दिनों द्रौपदी नकुल के कक्ष में रहती थी। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा था कि वह तीसरी सन्तान को जन्म देने वाली है।

यह बात युधिष्ठिर ने बताई कि अर्जुन नारद द्वारा निश्चित नियम भंग करने के कारण बारह वर्ष के लिए बाहर गया हुआ है।

मेरे पूछने पर नकुल ने बताया, "एक ब्राह्मण की गौ, कुछ डाकू चुराकर लिये जा रहे थे। उस ब्राह्मण ने हा-हा-कार मचाई तो अर्जुन

गाय छुड़ाने के लिए तैयार हो गया। उस समय उसका धनुष बाण घटनावश युधिष्ठिर के कक्ष में रह गया था। वह वहां धनुषवाण लेने के लिए गया तो महाराज महारानी की संगत में थे। अर्जुन ने गाय तो छुड़ा दी, परन्तु वचनानुसार वह बारह वर्ष तक घर से बाहर भ्रमणार्थ चला गया है। अतः उसकी पारी मुझको मिल गयी है। द्रौपदी आजकल मेरे कक्ष में रहती है।"

मुझको अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ से बाहर जाने की सूचना से कुछ चिन्ता हो गयी। अर्जुन अकेला ही गया था। उसका जीवन भय में हो सकता था। उसकी अनुपस्थिति में इन्द्रप्रस्थ भी आक्रमण के लिए अरक्षित था।

एक सप्ताह के आदर-सत्कार के पश्चात् मैंने श्रीकान्त के विषय में पूछा। पता चला कि वह नगर में एक पाठशाला चला रहा है। पाठशाला में वेद-वेदांग पढ़ाये जाते हैं। उनके साथ ही कुछ सीमा तक संगीत आदि कला की शिक्षा भी दी जाती है।

मैंने श्रीकान्त का पता पूछा और उर्मिला को लेकर उसकी पाठशाला में जा पहुंचा। एक बहुत बड़े भवन में लगभग एक सौ विद्यार्थी और विद्यार्थिनियां पढ़ने के लिए आती थीं। सबको देववाणी और वेदांग की शिक्षा दी जाती थी। सायंकाल उन्हीं विद्यार्थियों को संगीत और लड़कियों को नृत्य की शिक्षा देने का भी प्रवन्ध था।

श्रीकान्त ने हमको गृह-द्वार पर रथ से उतरते देख लिया और भागा हुआ आया और हमारे चरण-स्पर्श कर प्रणाम कर भीतर ले गया। हमारे आने के उपलक्ष्य में पाठशाला में छुट्टी कर दी गयी और श्रीकान्त मुझको गृह में ले गया। शकुन्तला के लड़का हुआ था और वह प्रसूति-गृह में थी। उसकी मां वहां उसकी सेवा-सुश्रूषा कर रही थी।

शकुन्तला ने हमारे चरण-स्पर्श किये। हम वहां उस गृह में ही बात-चीत करने तथा कुशल-क्षेम पूछने बैठ गये। उर्मिला ने बच्चे को लेकर प्यार किया, चूमा और फिर अपने गले से स्वर्ण-कण्ठी उतार बच्चे के गले में डाल दी।

कमल लोचना ने बताया, "बच्चा सर्वथा स्वस्थ और सुन्दर है।

हैं।

"एक बात कृष्ण जी ने और कही थी। वह यह कि किसी विद्वान् ब्राह्मण से वीर-गाथाएं लिखने को कहा जाये और उन वीर-गाथाओं का प्रचार घर-घर में कुछ भाटों और चारणों को प्रेरणा देकर कराया जाये। वह हम कर रहे हैं।

"कृष्ण जी का मत है कि हमारा कौरवों से युद्ध होगा। परन्तु यह तैयारी तो युद्ध के लिए नहीं, प्रत्युत एकाएक आक्रमण को रोकने के लिए है।"

मैं यह सब समाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न था। मुझको दुर्योधन के मन की बात कि राज्य के धनाभाव को समर से पूरा किया जाय, स्मरण हो आयी थी।

मैंने युधिष्ठिर से पूछ लिया, "आपका विचार राजसूय यज्ञ करने का है क्या?"

"विचार तो है। हम इस प्रश्न पर इस प्रकार विचार करते हैं। अश्वमेध यज्ञ हमारे धार्मिक पिता पांडुजी ने किया था और उसके कारण धृतराष्ट्र भारत-सम्राट के नाम से विभूषित हुए थे तथा कुरू-राज्य चक्रवर्ती राज्य बना था। महाराज पांडु की सन्तान हम हैं और यह हमारा अधिकार है कि हम राजसूय-यज्ञ कर अपने पिता की परम्परा को चलायें।

"श्रीकृष्णजी से भी इस विषय में विचार किया गया था। उस समय अर्जुन यहीं था। कृष्णजी का अनुमान था कि पांच वर्ष में यदि हम अपनी आर्थिक नीति पर दृढ़ रहे, तो हम राजसूय यज्ञ करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेंगे। उनका अनुमान था कि दस लक्ष सैनिक तथा हम पांचों भाई इस यज्ञ को पूर्ण करने में सबल हो जायेंगे। परन्तु दुर्भाग्य से अर्जुन बारह वर्ष के लिए घर से निकल गया है। अतः हमारी यह आकांक्षा तब तक के लिएं अपूर्ण ही रहेगी।"

"आपने अर्जुन को मना क्यों नहीं किया? उसने जान-बूझकर अथवा द्रौपदी को अनियमित रूप में प्राप्त करने के लिए तो वचन-भंग किया नहीं था।"

"मैंने, माताजी ने और सभी भाइयों ने उसको मना किया था,

परन्तु वह नहीं माना। उसने स्पष्ट कह दिया कि उसके अपने मन की शान्ति के लिए वचन पालन करना अत्यावश्यक है।"

मैं मन में विचार करता था कि यह सरलता की पराकाष्ठा है अथवा मूर्खता की।

जब मैं वहां से विदा हुआ तो युधिष्ठिर ने मुझको विदाई दी। मैंने कहा भी कि मेरी आर्थिक स्थिति दुर्बल नहीं है। परन्तु उसने कहा, "आप हमारे पूज्य पिताजी के गुरु हैं। आप हमारे राज्य पाने के पश्चात् पहली बार आये हैं। अतः भेंट तो आपको मिलनी ही चाहिए।"

: ६ :

मैंने इन्द्रप्रस्थ का पूर्ण वृत्तान्त महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख दुर्योधन को बताया। मैंने अपने को मिली विदाई का भी उल्लेख किया। यह सब वृत्तान्त दुर्योधन के लिए प्रसन्न होने का सूचक नहीं था। जब मैंने बताया कि नगर के चारों ओर एक सुदृढ़ प्राचीर बनी हुई है और उस पर दस सहस्र सैनिक दिन-रात नगर के रक्षार्थ नियुक्त हैं तो दुर्योधन का मुख मलिन पड़ गया।

दुर्योधन के मुख से वृत्तान्त सुनते ही, ये शब्द निकले, "तो वहां पर आक्रमण करना सुगम नहीं है।"

मैंने पूछ लिया, "तो क्या आपने मुझको वहां यह जानने के लिए भेजा था कि वहां पर आक्रमण हो सकता है अथवा नहीं ?"

"तो आप किसलिए गये थे ?"

'मैं तो यह समझा था कि आप उस राज्य की आर्थिक उन्नति के विषय में जानना चाहते हैं।"

"उसके जानने से क्या होगा ? हमारा यह पुराना राज्य वैसी आर्थिक नीति का अवलम्बन नहीं कर सकता जैसा कि वह नवीन राज्य कर सकता है।"

"यह आपका भ्रम मात्र है। जो कुछ वहां हुआ है, वह यहां और भी सुगमता से हो सकता है।"

"तनिक योजना बनाकर समझाइये।"

"देखिये, मैं समझता हूं कि युधिष्ठिर का यह कहना कि मनुष्य का परिश्रम ही धन है, ठीक है। ईश्वर की कृपा से आप सौ भाई हैं। सब खर्चा लेते हैं, परन्तु राज्य को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ नहीं करते।

"कल से सबको कुछ न कुछ कार्य सौंप दिया जाये। ऐसा कार्य जिससे राज्य के सब सूत्र राज-परिवार के हाथ में आ जायें। राज्य के जिस काम पर उनको लगाया जाये उसमें से ही उनको वेतन मिले। इस प्रकार आपको छः लक्ष स्वर्ण प्रतिवर्ष की बचत हो जायेगी।"

"परन्तु पांच सौ स्वर्ण प्रतिमास तो कोई भी राज्याधिकारी नहीं लेता।"

"तब तो और भी अच्छा है। वे राजकुमार जान लेंगे कि राज्य उनको क्या कुछ दे सकता है।"

"परन्तु इससे तो मेरे भाई रुष्ट हो जायेंगे और कदाचित् मेरे विरुद्ध विद्रोह कर देंगे।"

"महाराज!" मैंने कहा, "भीम सेनापति का काम करता है। उन्होंने कोई पृथक् सेनापति नहीं रखा हुआ। सेनापति का वेतन भीम को मिलता है। यह वेतन दो सौ स्वर्ण प्रतिमास है। नकुल व्यापार मंत्री का काम करता है। उसको एक सौ पचास स्वर्ण प्रतिमास वेतन मिलता है। सहदेव उद्योग-धन्धों का मंत्री है। वह एक सौ स्वर्ण वेतन-रूप में पाता है। सब भाई सन्तुष्ट हैं और अपने-अपने वेतन से दान-दक्षिणा भी देते हैं।"

"एक सौ स्वर्ण में वे किस प्रकार निर्वाह करते होंगे?"

"वे करते हैं। उनके भवनों में एक भी ऐसी वस्तु दिखाई नहीं देती जो किसी प्रकार से उपयोगी न हो। वे व्यर्थ एक ताम्र भी व्यय नहीं करते।"

"अर्जुन क्या काम करता है।"

मैंने बात बनाकर कह दी—"वह इस समय देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में घूम रहा है और उनकी सहानुभूति अपनी ओर कर रहा है।"

"इसकी क्या आवश्यकता है?"

"यह तो उन्होंने बताया नहीं। केवल इतना पता चला है कि वे

मित्रता को एक बहुत बड़ी वस्तु मानते हैं। वे पूर्ण देश के नरेशों से अपने सम्बन्ध बना रहे हैं।"

दुर्योधन इससे गम्भीर भाव बना उठकर चला गया। धृतराष्ट्र ने उसके जाने का शब्द सुना तो मुझसे पूछ लिया, "कौन गया है ?"

"महाराज ! युवराज एकाएक उठे हैं और चले गये हैं।"

"जाते हुए मुझको नमस्कार भी नहीं की।"

"महाराज ! यह शिक्षा का दोष है। जब युधिष्ठिर मुझको यह पांच सहस्र स्वर्ण देने लगा तो मैंने कहा भी कि मुझको आर्थिक कष्ट नहीं है। परन्तु वह कहने लगा कि मैं उनके पूज्य पिताजी का गुरु हूं। उनके राज्य प्राप्त करने के पश्चात् पहली बार वहां आया हूं। इस कारण इतना कुछ मुझको मिलना ही चाहिए

"महाराज ! इन्द्रप्रस्थ की जन-संख्या पांडवों के वहां जाने से पूर्व केवल चार सहस्र थी। इस समय उस नगर की जन-संख्या चार लाख है और साथ ही दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उस नगर में कोई बेकार नहीं रहता। राज्य की पूर्ण प्रजा कार्य करती है और अपना पेट भरती है।"

"द्रौपदी क्या कार्य करती है ?"

"वह, महाराज ! दो पुत्रों को जन्म दे चुकी हैं। अब तीसरा बच्चा उसके होने वाला है।"

"यह कार्य है क्या ?"

"हां महाराज ! बच्चे पैदा करना समाज की सेवा है। पर यह सेवा तब ही समझनी चाहिए, जब बच्चे पढ़-लिखकर उपयोगी कार्य करने के योग्य हों। महाराज ! अर्थशास्त्र का यह सिद्धांत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने खर्च से अधिक पैदा कर सकता है। अतः जितने भी उपयोगी कार्य करने वाले जन एक राज्य में होंगे, उतना ही वह राज्य उन्नत, समृद्ध और सम्पन्न होगा।"

"परन्तु यहां तो एक सौ पुत्र हैं, सब दिन-भर बेकार पड़े रहते हैं। प्रत्येक वेतन-रूप में पांच सौ स्वर्ण लेता है। राज्य पर यह भार-रूप ही है।" धृतराष्ट्र ने डबडबाई हुई आंखों से कहा।

मुझे कुछ ऐसा समझ में आया कि आज फिर महाराज महारानी

को इतने अधिक लड़के उत्पन्न करने पर कोसने वाले हैं, परन्तु मुझे वहां बैठा जान अपना क्रोध भीतर-ही-भीतर पी गये हैं।

मैंने बात बदल दी। मैंने कहा, "वास्तव में दुर्योधन को अपने भाइयों पर विश्वास नहीं है। वह उनको किसी भी अधिकारपूर्ण पदवी पर नियुक्त करना नहीं चाहता। उसको भय है कि उसके भाई उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं। अतएव उनको किसी अधिकार-युक्त पदवी पर नियुक्त करने का अर्थ है उनके विद्रोह को सहायता देना।"

"मैं समझता हूँ," धृतराष्ट्र ने कह दिया, "कि बात ऐसी नहीं है। वे भाई परस्पर इतना हिल-मिलकर रहते हैं कि उनमें कभी भी वैमनस्य की आशा करना मूर्खता है।"

मैं चुप कर रहा।

इसके कुछ काल पश्चात् दुर्योधन ने भारत-नरेशों से दशांश-कर, जो चक्रवर्ती राज्य होने के कारण कुरुवंश अपना अधिकार मानता था, मांगना आरम्भ कर दिया। कई दुर्बल नरेशों से वह कर अभी आता था, परन्तु अधिकतर नरेशों ने देने से इन्कार कर दिया।

इन न करने वाले नरेशों में द्रुपद सबसे प्रथम था। धृष्टद्युम्न ने एक अति कड़ा पत्र लिखकर भेजा। उसने लिखा, "न तो नैतिकता के नाते, न ही शक्ति के कारण कौरव-राज्य चक्रवर्ती राज्य है। हम आपको अपना नेता नहीं मानते।

"जो अपने भाइयों को जीवित जला देने का साहस कर सकता है। वह अन्य राज्यों की क्या रक्षा कर सकेगा?"

इस प्रकार के उत्तर जब चारों ओर से आने आरम्भ हुए तो एक युद्ध समिति का निर्माण किया गया। उसमें कर्ण, शकुनी, दुःशासन, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य का नाम रखा गया। इस समिति के सम्मुख यह प्रश्न रखा गया कि विद्रोही सम्राटों पर आक्रमण कर उनसे कर कैसे प्राप्त किया जाये।

समिति में सब एक मत नहीं हो सके और यह योजना विफल हो गयी। द्रोण ने तो कह दिया, "मैं आक्रमण करने की नीति को पसन्द नहीं करता। अश्वमेध यज्ञ किया जाय और जो राजा अथवा जिनके प्रतिनिधि वहां न आवें उन पर आक्रमण कर उनको अपने अधीन

किया जाये। विना यज्ञ के आक्रमण द्वेष का सूचक होगा। यज्ञ करके सबको एकत्रित करना देश में संगठन का सूचक है।"

भीष्म ने भी द्रोणाचार्य का समर्थन कर दिया। कर्ण ने तो यह कहा, "मेरा इस देश में अर्जुन के अतिरिक्त कोई शत्रु ही नहीं है। मैं तो केवल उसी से युद्ध करना चाहता हूं।"

इस पर भी राज्य का व्यय चलाना आवश्यक था। स्थानेश्वर राज्य से भी कर मांगा गया, परन्तु उसने भी इन्कार कर दिया। इस पर दु:शासन को सेना देकर उससे कर प्राप्त करने के लिये भेजा गया।

जैसा कि मैं आशा करता था, स्थानेश्वर से पांच कोस इधर ही स्थानेश्वर की सेना से युद्ध हुआ और दु:शासन अपनी वहुत-सी सेना की आहुति दे लौट आया।

इन लक्षणों को देख मेरा अनुमान यह था कि इस समय यदि युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करे तो वह उसमें सफल हो जायेंगे। परन्तु वह अर्जुन के विना यज्ञ नहीं कर सकते थे।

इस पर भी मेरे मन में यह विचार उठा कि राजसूय यज्ञ तो होगा ही। उसकी तैयारी में किसी को पहले देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में जाकर वहां की वास्तविक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस विषय में युधिष्ठिर के किसी दूत के जाने से तो कृत्रिम व्यवहार भी स्वीकार किया जा सकता है।

अत: मैंने, जो कौरवों के राज्य का एक विद्वान् आदमी माना जाता था, स्वयं जाने का विचार कर लिया। मैंने तीर्थाटन का वहाना कर, भिन्न-भिन्न राज्यों में जाकर कौरवों और पांडवों के विषय में उनके मन की भावनाओं को जानने का निश्चय कर लिया।

जब मैंने तीर्थाटन का नाम लेकर उर्मिला से वात की तो वह प्रसन्नता से उछल पड़ी। उसने कह दिया, "हस्तिनापुर-रूपी नरक कुंड की सड़ान में रहते-रहते जी ऊव गया है। ईश्वर आपका भला करे, जो यह विचार आपके मन में उत्पन्न हुआ है।"

अत: अगले ही दिन से तैयारी होने लगी। पांडवों से प्राप्त स्वर्ण अभी रखा था। मैंने उससे ही भ्रमण की तैयारी कर दी।

इस यात्रा में जाने के पूर्व मेरा देवेन्द्र से मिलना आवश्यक

था। अतः मैंने यह इच्छा मन में बनाई तो वहां का दूत आ गया। एक देवता के दर्शन हुए, जिसने बताया कि दो दिन में मुझको लेने के लिये देवलोक से विमान आयेगा। मुझको वहां एक लम्बे काल के लिए रहने को तैयार होकर जाना चाहिए। मैंने उर्मिला को साथ ले जाने की इच्छा प्रकट की, इस पर उस देवता ने कहा कि मेरी इच्छा सुरराज के पास भेज दी जायेगी।

मैं तीर्थाटन देवलोक से ही आरम्भ करना चाहता था। मेरी उर्मिला को देवलोक में साथ ले जाने की प्रार्थना स्वीकार हो गयी।

नियत दिन और समय पर मैं उर्मिला सहित नियत स्थान पर पहुंच गया। वहां विमान उतरा तो हम उसमें बैठ देवलोक जा पहुंचे।

जब मैं इन्द्र के सम्मुख उपस्थित हुआ तो मैंने अपनी योजना बता दी। मैंने कहा, "महाराज! इस समय इन्द्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर में मेरे करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। दोनों राज्य अपने-अपने मार्ग पर जा रहे हैं। एक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है तो दूसरा अवनति के पथ पर। इस पर भी दोनों में अन्तर इतना नहीं कि युद्ध हो ही जाये। सबसे बड़ी बात यह है कि अर्जुन वनगमन को जा चुका है। अभी उसके लौटने में आठ वर्ष शेष हैं।

"इस कारण मैंने यह विचार किया है कि भारत के भिन्न-भिन्न राज्यों में कथाकार के रूप में भ्रमण करूं। वहां की प्रजा तथा नरेशों के मनोभावों को जानूं। यदि हो सके तो कुछ ठीक दिशा में प्रेरणा भी दूं।

"अपनी शक्ति के अनुसार नरेशों में धर्म के प्रति रुचि और धर्म का पक्ष लेने में साहस उत्पन्न करने का यत्न करूं।"

इन्द्र को यह बात समझ आ गयी। मुझसे पहले नारद इस योजना के अनुसार देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में भ्रमण कर रहे थे। मुझको भी इस कार्य में जाने के लिए तैयार देख, इन्द्र ने मेरा कार्यक्रम बना दिया।

मैंने इन्द्र को बताया—"युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहता है। यह यज्ञ अर्जुन के लौट आने पर ही हो सकेगा। तब तक मैं पांडवों के पक्ष का कुछ तो प्रचार कर ही सकता हूं।

इन्द्र को भी अर्जुन का एक साधारण सी बात के लिये घर से निकल जाना रुचिकर नहीं लगा। जब उसने मुझसे यह सूचना सुनी कि देश के प्रायः नरेश कौरवों को कर देने से इन्कार कर रहे हैं, तब उसने कहा, "यह समय है, जब कौरवों का मूल चूल विनाश किया जा सकता है। परन्तु जिस शक्ति को हम तैयार कर रहे हैं उसमें भी तो दोष है।

"अर्जुन के लौटने तक देश की परिस्थिति क्या हो जायेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। देखिये संजय जी! आज से चालीस वर्ष पूर्व हम यही कुछ करना चाहते थे जो आज करने जा रहे हैं, परन्तु दैव बहुत प्रबल है। होगा वही जो होना है, परन्तु हानि उस समय से अब कई गुणा अधिक होने वाली है। जितनी देर होती जाती है उतना ही अधर्म का प्रसार बढ़ रहा है और उतना ही अधिक बलिदान देना पड़ेगा।

"यदि अब भी किसी कारण के संघर्ष में देरी हुई तो पासा फिर उलट सकता है।"

मेरा यह कहना था कि, "जब तक परमात्मा को संघर्ष स्वीकार नहीं, तब तक हमको धर्म-परायण शक्तियों को एक तनाव की अवस्था में ऊंचे स्तर पर तैयार रखना चाहिये। इसीलिए ही इस तीर्थाटन का आयोजन है।"

: ७ :

मैंने अपना भ्रमण देवलोक से ही आरम्भ किया। वहां से हिमाचल क्षेत्रों का भ्रमण करते हुए गंगा द्वार और वहां से इन्द्रप्रस्थ, स्थानेश्वर, ब्रह्मवर्त, बह्नीक की ओर से होता हुआ दक्षिण के पूर्वांचल के तीर्थों और राज्यों में भ्रमण करता हुआ चला जा रहा था।

इस भ्रमण में जहां मैं राज्य के नरेशों से मिलता था, वहां जनसाधारण में कथा-कीर्तन भी किया करता था। लोगों से मिलता-जुलता था, उनसे विचार-विनिमय करता था, धर्म का रूप और उसकी महिमा का प्रतिपादन करता रहता था। इस प्रकार मैं देश में एक आन्दोलन चलाने का यत्न कर रहा था।

नरेशों से तो खुलकर कौरवों और पांडवों के विषय में बातचीत

होती थी। वे सब दोनों में वैमनस्य का कारण जानने की इच्छा करते थे। कहीं-कहीं किसी एक चक्रवर्ती राज्य की आवश्यकता पर भी विचार होता था। मैं प्रत्येक स्थान पर एक-एक दो-दो मास रहता हुआ चला जा रहा था।

इस प्रकार पांच वर्ष व्यतीत हो गये।

मैं प्रभास तीर्थ पर पहुंचा तो वहां कुछ मास ठहरने का विचार कर लिया। यहां मैं अपने एक सहपाठी श्रीपदाचार्य के गृह पर ठहरा। श्रीपदाचार्य की पत्नी सुहृदया मेरी पत्नी उर्मिला से बहुत प्रेम करने लगी थी।

यहां पर भी अपने निश्चित कार्य के अनुसार दिनचर्या बनाये हुए था। एक दिन मैं अपने नित्य कर्म से निवृत्त हुआ तो उर्मिला और सुहृदया मुझे बताने लगीं, "पांडुनन्दन अर्जुन आज प्रभास तीर्थ में पधारे हैं। पहले तो लोगों को पता नहीं चला, परन्तु जब वे पितृ-तर्पण करने लगे तो पुजारी जी को उनके कुल और गोत्र का पता चल गया। पुजारी पूजा से उठ उनको सादर नमस्कार करने लगा तो आसपास के लोग भी जान गये और अब तो प्रभास में यह बात सर्वत्र फैल गयी है। लोग झुंड के झुंड उनके दर्शनों के लिये जा रहे हैं।"

मैं मन में विचार करने लगा कि अपने को प्रकट करूं अथवा न। जो कार्य मैं करने जा रहा था, वह मैं पांडवों से पृथक् रह कर ही सुचारु रूप से कर सकता था। मेरा किसी प्रकार से पांडवों से सम्पर्क तो मेरे उद्देश्य के लिये हानिकर ही हो सकता था। इस पर भी मैं अर्जुन के दर्शन किये बिना नहीं रह सका। अतः मैं भीड़ में गया और अर्जुन के दर्शन कर आया।

मैं पंडित श्रीपदाचार्य के गृह के प्रांगण में ही कथा किया करता था। उसी सायंकाल कथा में धर्म अधर्म की व्याख्या पर बातचीत करते हुए श्रोताओं ने अर्जुन तथा उसके भाइयों के विषय में प्रश्न पूछ लिये। मैंने तटस्थ व्यक्ति के रूप में पांडवों का संक्षिप्त इतिहास बता दिया। इस इतिहास में अर्जुन के भ्रमण का भी उल्लेख आया। इससे अर्जुन की महिमा, उसके धर्मात्मा होने के विषय में धारणा और

भी सुदृढ़ हो गयी।

जन साधारण में भी अव अर्जुन के विषय में अनेकों किंवदन्तियाँ विख्यात हो चुकी थीं। जहां मैं अर्जुन की धनुर्विद्या के विषय में बताता था, वहां लोग मुझको उसके इस देशाटन में किये कृत्यों को वताते थे।

मुझको पता चला कि अर्जुन ने गंगा द्वार पर उलूपी से और मणीपुर की राजकुमारी चित्रागंदा से विवाह किया है और दोनों स्त्रियों से दो पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं। उलूपी का पुत्र उसकी मां को और चित्रागंदा का उसके पिता चित्रवाहन को सौंप आये हैं।

इनके अतिरिक्त अर्जुन के अनेकों अन्य शौर्य के कामों का उल्लेख जन-साधारण में विख्यात हो रहा था। मुझको यह सब सुनकर संतोष हो रहा था। ये सब बातें पांडवों के चक्रवर्ती राजा होने में सहायक होने वाली थीं।

प्रभास तीर्थ गुर्जर राज्यांतर्गत था। अर्जुन के यहां आने का समाचार द्वारिका में पहुंचा। कृष्ण यह समाचार पा स्वयं प्रभास में गये और अर्जुन को अति आदर सहित द्वारिका जी में ले गये।

मैं भी उर्मिला को प्रभास में उसकी सखी के पास छोड़ स्वयं द्वारिका जा पहुंचा। द्वारिका में पूर्ण नगर अर्जुन की सवारी देखने के लिए राजपथ पर उमड़ पड़ा। वहां के जानकार व्यक्तियों का कहना था कि यह स्वागत अभूतपूर्व था। इस स्वागत का जन साधारण के मन पर भारी प्रभाव पड़ा। प्रायः वहां के सब वर्ग के लोग अर्जुन और पांडवों के प्रति सहानुभूति और प्रेम अनुभव करने लगे थे। अर्जुन के गृह से बाहर रहने की अवधि में अभी दो वर्ष से ऊपर थे। इस कारण कृष्ण का आग्रह था कि वह द्वारिका में ही शेष समय व्यतीत करे। परन्तु अर्जुन का चंचल-मन एक ही स्थान पर रहने को नहीं मानता था। इस पर भी वह वहां अनिश्चित काल के लिए ठहरा हुआ था।

मैं भी वहां के भोज, वृष्णि और अंधक वंश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों से मिलकर उनके विचार जान रहा था और उनको अपने विचार वता रहा था। इस प्रकार के वार्त्तालाप से मेरा प्रकट हो जाना स्वाभाविक ही था। एक दिन मैं धर्मशाला में प्राचीन काल के इतिहास की कथा

कर रहा था कि श्रीकृष्ण वहाँ आ पहुँचे। वे आये तो वहाँ बैठे श्रोता-गणों ने उनके लिए मुझ तक आने का मार्ग छोड़ दिया। वे कदाचित् चुपचाप पीछे बैठ मेरी कथा सुनते, परन्तु इस प्रकार लोगों से पहचाने जाने पर तथा उनके मार्ग छोड़ने ने उनको विवश कर दिया कि वे मेरे पास आकर बैठ जायें।

मैंने उनको नमस्कार की और अपने समीप बैठने का आसन दे मैं अपनी कथा आगे करने लगा। मैं बता रहा था, "पुण्य कर्म और पाप-कर्म दोहरा प्रभाव रखते हैं। एक तो उनका प्रभाव समाज पर होता है। दूसरे, उनका प्रभाव उनके करने वाले व्यक्तियों पर होता है। उदाहरण के रूप में एक स्त्री-पुरुष अविवाहित ही पति-पत्नी बन जाते हैं।

"समाज धर्म में यह पाप है। इससे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इस सामाजिक प्रभाव के अतिरिक्त इस कार्य का प्रभाव उनके अपने जीवन पर भी होता है।

"यदि यह कार्य इक्के-दुक्के व्यक्ति का स्वेच्छा से हो तो प्रभाव सीमित रहता है। यदि ऐसे कार्य के लिए राज्य बलपूर्वक प्रोत्साहन दे तो इस कुकर्म का प्रभाव भी व्यापार हो जाता है। इससे पूर्ण समाज में यह पाप-कर्म अपना प्रभाव उत्पन्न करता है और समाज पाप-कर्म का भागी हो जाता है।

"जब राज्य के छलकपट को समाज स्वीकार करता है तो पूर्ण पाप समाज का हो जाता है। और वह उस पाप का फल भोगा करता है।"

मैंने नहुष का उदाहरण देकर अपने वक्तव्य को सिद्ध कर दिया। "नहुष ने इन्द्र को छल से पराजित किया। परिणाम यह हुआ कि उस के समाज में छल-कपट भी धर्म माना जाने लगा। पूर्ण समाज ही छली और कपटी हो गया और उस समाज को अपने पाप का फल भोगना पड़ा। पूर्ण गांधार जनता विनाश को प्राप्त हुई।

"यही बात अब कुछ कुरुवंशीय कौरवों में हो रही है। कौरव अपने पाप-कर्म प्रजा पर थोप रहे हैं। प्रजा उन पाप-कर्मों को सहन कर रही है। अतः जब पाप का फल निकलेगा तब जन-साधारण भी उस

फल से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे।

"दुष्ट राज्य का सहन करना दुष्टता में भागीदार होना है। पाप का फल दुःख और क्लेश ही होता है और पुण्य का फल सुख-समृद्धि।"

कथा समाप्त हुई। लोग उठकर जाने लगे तो श्री कृष्णजी ने मुझको कहा, "विप्रवर! चलिये। मैं आपको राज-प्रासाद में ले जाने के लिए आया हूं।"

मैंने पूछ लिया, "महाराज! वहाँ क्या है?"

"तो आप नहीं जानते? पांडवों की प्रशंसा के पुल बांध रहे हैं और पांडुनन्दन अर्जन के आने का समाचार नहीं जानते?"

"जानता हूं श्रीमान्! परन्तु मेरा कार्य किसी की इच्छापूर्ति तथा प्रसन्नता के निमित्त नहीं है। मैं तो स्वेच्छा से ही धर्म के प्रतिपादन का यत्न कर रहा हूं।"

"तो आइये! कुछ थोड़ा-सा धर्मोपदेश हमको भी कीजिये।"

मैं समझ गया कि कुछ विशेष प्रयोजन प्रतीत होता है अतः अपना लोटा-कम्वली उठाई और उनके साथ चल पड़ा। अपने रथ पर बैठाकर वह मुझको राज-प्रासाद में ले गये।

उन दिनों द्वारिका की शोभा उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। मध्य भारत में और समुद्रवर्ती नगरों में यह एक विशेष महत्त्व रखती थी। बहुत लम्बे-लम्बे और चौड़े पथ थे। इन पथों के दोनों ओर कई-कई छतों की अट्टालिकाएं थीं। सुन्दर, भव्य मन्दिर और विशाल प्रासादों की यह नगरी अति शोभायमान हो रही थी।

श्री कृष्ण मुझको अपने प्रासाद में ले गये। वहां प्रासाद के एक अति ही सुसज्जित आगार में ले जाकर कहने लगे, "तात्! यह लोटा-डोरी यहां रख दें। अब कुछ दिन तक आपको यहां ही रहना पड़ेगा।"

मैंने एक कोने में कम्वली, लोटा, डोरी रखी तो वे मुझको इसी प्रासाद के एक अन्य आगार में ले गये। वहां स्त्रियों की भरमार थी। अर्जन महारानी रुक्मिणी से बातें कर रहे थे। रुक्मिणी की दासियां आगार के बाहर सेवा के लिए खड़ी थीं।

मैं भीतर गया तो अर्जुन ने खड़े होकर मेरा सत्कार किया। उसने पूछा, "तात्! क्या आपने संन्यास ले लिया है?"

"नहीं कुमार! अभी तो उर्मिलादेवी, मेरी धर्म-पत्नी मेरे साथ हैं। वे प्रभास क्षेत्र में मेरे सहपाठी श्रीपदाचार्य जी के घर पर ठहरी हुई हैं। मैं तो कुछ दिन के लिए द्वारिका की शोभा देखने के लिए चला आया था। श्रीपदाचार्य की पत्नी सुहृदया ने उर्मिला को अपने पास ही रख लिता है। वे दोनों परस्पर एक-दूसरे से बहुत प्रेम करती हैं।"

इस पर श्रीकृष्ण कहने लगे, "यह आपने पहले क्यों नहीं बताया ? संजय जी! वे आज सायंकाल तक यहां आ जायेंगी। देखिये, रुक्मिणी जी की एक दासी कल आपसे एक उपाख्यान सुनकर आयी तो देवी जी को उसका सारांश बताने लगी। वह उपाख्यान मेरे बाल्यकाल के सम्बन्ध में था। देवीजी ने सुना तो सुनकर प्रेमाश्रु बहाने लगीं। मैंने समझा कि उनको कोई दुःख हुआ है। जब उनसे कारण पूछा तो बोलीं, "इस कथाकार को यहां बुलाकर कथा कराइये।" मैं भी विचार करता था कि देखना चाहिए कि कौन व्यक्ति है जो मेरे जीवन-चरित्र को चिरंतन कर रहा है। अतः आज आपके कथा-स्थान पर जा पहुंचा। वहां आपको देख समझ गया कि हस्तिनापुर के मंत्री और कंस पर मेरी विजय में सहयोगी आये हैं।

"मां की सखी रमणी न आपका पूर्ण वृत्तान्त बताया था। इससे आपके प्रति श्रद्धा और भक्ति को प्रकट करने के लिए आपको यहां ले आने का निश्चय कर बैठा था। उस समय मेरे मन में भी यही विचार आया था कि आप संन्यासी नहीं तो वाणप्रस्थ में अवश्य प्रवेश कर चुके हैं।

"यह है आपके यहां आने का रहस्य! आपकी उर्मिला जी को भी यहां आना चाहिए। रुक्मिणी का कहना है कि आप उसके पति के उच्छृंखल कार्यों का जनसाधारण में उल्लेख न कर रुक्मिणी के सम्मुख ही किया करें तो ठीक है।"

"भगवन्, आप लज्जित न करें। मैं एक अति तुच्छ जीव हूं। मैं नहीं जानता था कि मैं आपके इतने आदर का पात्र हूं। अभी संशय हो रहा है कि कहीं अपने मित्र सुदामा की भांति मेरी हँसी न उड़ा रहे हों।"

इस पर तो रुक्मिणी देवी खिल-खिलाकर हँस पड़ीं, सखियां भी जो सुदामा की कथा से परिचित थीं, मुख छुपाकर हंसने लगीं।

इस पर महारानी ने कहा—"विप्रवर ! ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी उस साधारण सी बात को, आप कथाकारों ने बढ़ा-चढ़ाकर व्यर्थ में प्रसिद्धि दे रखी है।"

"नहीं महारानी जी ! मैं किसी राज-दरबार का चारण नहीं हूं। मैंने संकल्प किया है कि सत्य भाषण ही करूंगा। अतः जो कुछ मैंने सुना है, और जो कुछ आपके पति के विषय में जाना है उसकी अपेक्षा मेरा कथन बहुत ही संयत शब्दों होता है।"

"इस पर भी आप विश्वास रखिये, आपकी पत्नी से वैसी उदारता प्रकट नहीं की जायेगी। वे तो निर्धन ब्राह्मण थे और आप एक समृद्ध ब्राह्मण प्रतीत होते हैं। महाराज धृतराष्ट्र के मंत्री की पत्नी से वह उदारता नहीं दिखाई जा सकती जो एक निर्धन ब्राह्मण के प्रति उचित थी।"

"महारानी जी ! मैंने सुदामा का उल्लेख, उससे इस राज-प्रासाद में हुए व्यवहार के कारण किया था। उसकी पत्नी के प्रति उदारता के विषय में तो कुछ नहीं कहा था। परन्तु इतना और निवेदन है कि मैं अब महाराज धृतराष्ट्र की सेवा में नहीं हूं।

"मैं तो इस यात्रा में पांच वर्ष से हूं और स्थान-स्थान पर आपके पतिदेव तथा उनके मित्र पांडवों के गुणानुवाद गाता आ रहा हूं। इसमें मुझको रस मिलता है।"

"तात् !" अर्जुन ने पूछ लिया—"सेवा कार्य से कौरवों ने निकाला है अथवा स्वयं छोड़ आये हैं ?"

"निकाला तो नहीं कहा जा सकता। इस पर भी छोड़ आने की बात भी ठीक नहीं है। आरम्भ काल से ही मेरा कुरुवंशियों से कुछ मतभेद रहा है और मैं अपने मत को निर्भीकता से प्रकट करता रहा हूं। परिणामस्वरूप मैं चार बार निकाला जा चुका हूं। पहले तीन बार तो मैं स्वयं उपस्थित होकर उनकी सेवा स्वीकार कर लेता रहा हूं। इस अंतिम बार मेरी रुचि उनकी सेवा में जाने की नहीं हुई। इस पर भी जब-जब उनको मुझसे कोई काम लेना होता है, तो बुला लेते

हैं। महारानी द्रौपदी के स्वयंवर पर भी मेरी सेवायें सामयिक रूप में ली गयी थीं। एक बार मुझको इन्द्रप्रस्थ की आर्थिक अवस्था जानने के लिए वहां भेजा गया था।

"अतः मैं यह नहीं कह सकता कि मैं वहां से निकाल दिया गया हूं, न ही मैं यह कह सकता हूं कि मैं छोड़ आया हूं। एक प्रकार का समझौता-सा है कि हम मतभेद के कारण पृथक्-पृथक् हैं। कभी किसी कार्य में रुचि होती है तो मैं उनका कार्य कर भी देता हूं।"

इस पर कृष्ण ने कहा, "देखिए संजय जी! मुझे माता जी ने बताया है कि आप और नारदजी मथुरा की प्रजा को अनुकूल करने का यत्न करते रहे हैं। माताजी का कहना है कि रमणी के कथनानुसार इन्द्र ने लाखों स्वर्ण उस कार्य के लिए व्यय किये थे। एक बार आप नारदजी और इन्द्र के साथ मुझको गोकुल में मिले भी थे।

"माताजी का यह भी कहना है कि आप दोनों के प्रयत्न का फल ही था कि जब मैं मथुरा पहुंचा तो पूर्ण नगर निवासी मेरे पथ पर आंखें बिछाने के लिए तैयार थे। आपने प्रजा के विचारों में क्रान्ति उत्पन्न की थी।

"अतः मैं आपकी योग्यता और विचारों पर मुग्ध हूं। यह मैं मानता हूं कि पापी राजा तब ही अपने पाप-कर्मों को कर सकता है जब प्रजा का नैतिक पतन हो चुका हो। धर्म-परायण प्रजा के रहते दुराचारी राजा फल-फूल नहीं सकता।

"मैंने जब कल रुक्मिणी देवी की दासी से आपके आख्यान को सुना तो मैं यह समझा था कि इन्द्र की ओर से पुनः कोई भारत के जनमत को धर्म के पक्ष में बना रहा है।"

मैं कृष्ण के परिचय और सूझ-बूझ पर चकित रह गया। इस पर भी मैं बताना नहीं चाहता था कि मेरा इन्द्र से क्या सम्बन्ध है। अतः मैं मुस्कराता हुआ उनका मुख देखता रहा। इस पर कृष्ण जी ने पूछ लिया, "संजयजी! क्या देख रहे हैं आप मेरे मुख पर?"

"महाराज, आपके मुख की शोभा का महारानी जी के मुख के सौन्दर्य से तुलना कर रहा था। मैंने आपकी राधा को भी देखा है। मैं विचार कर रहा था कि इन दोनों में कौन अधिक सौभाग्यवान और

आपको अधिक प्रिय है ?"

सब बैठे हँसने लगे। इस समय कृष्ण की माता देवकी और कृष्ण के पिता वसुदेव भी मेरे आने का समाचार पा वहां आ गये। वे सब राधा के सौभाग्य की तुलना रुक्मिणी से होती सुन हँसने लगे थे। इस पर कृष्ण ने पूछा, "यह भेंट तब ही हुई थी या आजकल की बात करते है ?"

"महाराज ! मैं इस तीर्थाटन के सम्बन्ध में मथुरा और वहां से वृन्दावन तथा गोकुल में गया था। नन्द गांव की यात्रा भी की है। राधिका रानी से मिला था। वह यमुना से जल भरने के लिए घाट पर आई हुई थी। मैं उसको कितनी ही देर तक यमुना के बहते जल की ओर देख-देख अपने अश्रु यमुना के जल में उंडेलते देखता रहा। उर्मिला भी मेरे पास बैठी थी। मैंने उर्मिला को समझाकर उसके पास भेज दिया। उसका परिचय दे चुका था।

"उर्मिला ने उसके समीप बैठकर पूछ लिया, 'राधा बहन ! क्या देख आंसू बहा रही हो ?'

"वह एक अपरिचित स्त्री से अपना नाम सुन आंखें पोंछ उर्मिला के मुख पर देखने लगी। फिर पूछने लगी, 'आपको मैंने पहले कभी नहीं देखा। आप मुझको कैसे जानती हैं ?'

"उर्मिला ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा, 'मैं हस्तिनापुर की रहने वाली हूं। अपने पति के साथ तीर्थ यात्रा कर रही हूं। मथुरा आये तो नन्द गांव को देखने चले आये। घाट पर स्नान-संध्या कर नन्द बाबा के घर जाने का विचार ही कर रहे थे। तुमको इस समय घाट पर घड़ा भरे यहां बैठे देख लिया। मेरे पति ने तुमको पहचाना और तुम्हारे आंसुओं से यमुना का जल पवित्र होता देख मुझको बताया है कि तुम कौन हो। मैं समझती हूं कि इन आंसुओं के पीछे मन की भावना क्या है ?'

"वह उर्मिला की बात सुन अति विह्वल हो रोने लगी। उर्मिला ने बहुत कठिनाई से उसको चुप कराया। हम दो दिन नन्द गांव में रहे और दोनों दिन राधा से मिलते रहे। वह बेचारी आपकी छोटी-छोटी बातों को भी ऐसे विस्मय से वर्णन करती है जैसे वे अभी कल

की घटनाएं ही हैं।

"भगवन्! उसको यहां बुला लीजिये। बहुत उपकार होगा?"

"मैंने किसी को यहां आने से रोका नहीं। पिछले वर्ष मेरे बहुत से ग्वाल-सखा और ग्वाल-सखियां आयी थीं, परन्तु राधा नहीं आयी। बताइये, भला मैं क्या कर सकता हूं!"

"महाराज! उसका जो सम्बन्ध आपसे रहा है, उसको जान तो मैं यह कहने में संकोच नहीं करता कि आप जाकर उसे अपने रथ पर बैठाकर लाइये।"

"आपके द्वारा यह संदेश भेजा है उसने!"

"नहीं, वह तो यह कहती थी कि वह मधुर काल गया। जैसे यौवन जाता है, तो बुद्धिमान वृद्ध-जन उस यौवन काल की मधुरता को याद कर आनन्दाश्रु बहाया करते हैं, वैसे ही वह अनुभव करती है।

"उर्मिला ने पूछा था, 'राधा! क्या नन्दलाल से मिलने को तुम्हारा चित्त नहीं करता?"

"उसका कहना था—करता है। वैसे ही जैसे किसी वृद्ध को अपने यौवन का अनुभव पुनः प्राप्त करने का जी करता है, परन्तु! न तो वह संभव होता है, न ही वांच्छनीय। तब मैं कुमारी थी। अब विवाहिता हूं। अब तो मेरा पति एक क्षण के लिए भी मुझको उनके सम्पर्क में आने नहीं देगा।

'वह बेचारा नहीं जानता कि मेरा उस नन्दलाल से पार्थिव सम्बन्ध नहीं था। वह तो आत्मा का मिलन था। वह सम्बन्ध तो अंतर की अवहेलना करके भी बना रहता है। इस पर भी अब ये आंखें उनको नहीं देख पायेंगी।'

"अब बताइये संजयजी! मैं किसके लिए रथ लेकर जाऊं और किसको बैठाकर ले आऊं?"

"इसीलिए तो महाराज, यह देखने का यत्न कर रहा था कि कौन भाग्यवान है। वह नन्द गांव में बैठी हुई अथवा यह द्वारिका के राज-प्रासाद में आपके चरणों की छाया में रहती हुई।"

राधा की अवस्था को सुनकर रुक्मिणी की आंखें भी भीग गयी थीं।

देवकी अपने पुत्र के साथ नन्द गांव वालों का इतना मोह जान अति गर्व अनुभव कर रही थी। अर्जुन अपने प्रिय सखा के सम्मोहन की गाथा सुन आश्चर्यचकित हो बैठा रहा गया।

: ८ :

सायंकाल कृष्ण के रथ में उर्मिला भी वहां आ पहुंची। मैं प्रासाद के ऊपर की छत पर अपने आगार की खिड़की में खड़ा था। अर्जुन मेरे समीप खड़ा था। उर्मिला को प्रांगण में आकर खड़े हुए रथ से अपनी कम्बली और अन्य सामान उतारते देख अर्जुन हँस पड़ा। तत्पश्चात् मेरे मुख पर देखकर कहने लगा—"तात्! आप तो बूढ़े हो रहे हैं, परन्तु काकी तो पहले से अधिक युवा हो रही प्रतीत होती हैं।"

"हां कुमार! इसमें एक कारण है। वह देवकन्या है। मैं तो एक मानव-मात्र हूं। देवता लोग प्रकृति से ही दीर्घायु होते हैं। उनका यौवन पचास वर्ष की आयु से आरम्भ होता है। उर्मिला की आयु मैं नहीं जानता। जब वह मुझको मिली थी, ऐसी ही थी, जैसी अब है।"

"तब तो तात्! काकी को शीघ्र ही एक अन्य विवाह करने की आवश्यकता अनुभव होने लगेगी।"

"तो विवाह का सम्बन्ध क्या यौवन और आयु से है? मैं तो समझा हूं कि यह बात मन की अवस्था से सम्बन्ध रखती है। मैंने वृद्ध-जनों को भी विवाह बन्धन में प्रवेश करते देखा है।"

इस समय उर्मिला अपनी पोटली, लोटा और कम्बली उठाये वहां आ गयी। उर्मिला ने अर्जुन को पहचान, आशीर्वाद दिया। वह मेरी ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखने लगी।

मैंने कह दिया, "देवी! मैं तो साधारण प्राणियों की भांति ही इस नगरी में रहना चाहता था, परन्तु इस माखनचोर से भला चोरी कैसे रह सकता था। अतः आज प्रातःकाल पकड़ लिया गया हूं। जब उनको पता चला कि तुम प्रभास में हो तो तुमको लाने के लिए रथ भेज दिया गया।"

मैं कई दिन तक वहां रहा। मुझको राज-भवन में ही प्रातः सायं

कथा करने की आज्ञा हो गयी। अतः प्रातःकाल के पश्चात् और संध्योपासना के पूर्व पुराणों में से कथा होने लगी। पूर्ण राज-प्रासाद के प्राणी वहां एकत्रित हो जाते।

पुराणों की सब कथायें धर्म और अधर्म के संघर्ष की कथाएं हैं। उन गाथाओं के कहने का परिणाम यह हो रहा था कि धर्म, कर्म पर शंका-समाधान होने लगता था।

कथा के समय कृष्ण, बलराम, वसुदेव तथा अन्य मुख्य-मुख्य लोग भी वहां आते थे। प्रायः प्रश्न उनकी ओर से पूछे जाते थे। एक दिन बलराम ने पूछ लिया, "तात् ! धर्म क्या होता है?"

"करने योग्य कर्म को धर्म कहते हैं।"

"करने योग्य क्या है?"

"जिससे मनुष्य का कल्याण हो।"

"कल्याण किसको कहते हैं?"

"जो मानव के उद्देश्य की पूर्ति करे।"

"और वह क्या है?"

"मोक्ष प्राप्त करना।"

"यह कैसे प्राप्त होता है?"

"शरीर, मन और आत्मा का उन पर शरीर का ज्ञान द्वार है। मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुंचाता है। जब आत्मा ज्ञानमय हो जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"सबल शरीर ज्ञान को ग्रहण करने में योग्य है। दुर्बल, रुग्ण तथा अपूर्ण शरीर ज्ञान की प्राप्ति में अशक्त रहता है। शरीर को स्वस्थ, सबल और पूर्ण रखने के लिए विज्ञान की आवश्यकता रहती है। शास्त्र विज्ञान की विवेचना करते हैं।

"ज्ञान विज्ञान से भिन्न वस्तु है। आत्म-तत्त्व के निरूपण को ज्ञान कहते हैं। अतः विज्ञान से शरीर की रक्षा होती है। यह रक्षित तथा पुष्ट शरीर ज्ञान प्राप्त करने में योग्य होता है।

"इस ज्ञान को आत्मा तक ले जाने का मार्ग है। यदि मन निर्मल न हो तो ज्ञान आत्मा तक पहुंचते-पहुंचते मलिन अर्थात् दूषित हो जाता है। अतः शुद्ध, पवित्र आत्म-तत्त्व का ज्ञान आत्मा को हो सके,

इसके लिये मन को निर्मल और अनुभवी होना चाहिए, यह अत्यावश्यक है।

"मलिन मन में प्रवाहित हो रहा ज्ञान विकृत हो जाता है। विकृत ज्ञान आत्मा के संस्कारों को विकृत कर देता है जो मोक्ष-प्राप्ति में बाधक होते हैं।"

"निर्मल मन के क्या लक्षण हैं ?" दूसरा प्रश्न था।

"विकारों से रहित मन निर्मल होता है।"

"मन के विचार कौन-कौन से हैं ?"

"काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार।"

"आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं होते क्या ?"

"नहीं। आत्मा पर विकृत संस्कारों की धूल जम जाती है। यह धूल ध्यान योग से हट सकती है।"

"ध्यान-योग का क्या अर्थ है ?"

"परमात्मा जो निर्विकार है, उसके चिन्तन को ध्यान योग कहते हैं।"

"परमात्मा किसने देखा है ?"

"निर्मल आत्मा रखने वालों ने।"

इस प्रकार दिन के पश्चात् दिन यह कथा-वार्ता चल रही थी। एक दिन मेरी कथा पर श्रीकृष्ण पूछने लगे, "जब मोक्ष साध्य है और मोक्ष अपने किये से ही प्राप्त होता है तो फिर दूसरों के झगड़ों में चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? कोई जीवित रहे अथवा मरे, साधु घोल प्याला पिये।"

मैं समझ गया कि श्रीकृष्ण ने किसी विशेष प्रयोजन से इस साधारण से प्रश्न पर विवेचना करने का आह्वान किया है। प्रश्न करते समय वह मुस्करा रहे थे।

मैंने कह दिया, "स्वास्थ्य शरीर के लिये परम साध्य वस्तु है। स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये शुचि अर्थात् पवित्रता एक साधन है। मनुष्य स्वयं स्नान इत्यादि से अपने को पवित्र रख सकता है। इस पर भी यदि पड़ोसी मल बिखेरना आरम्भ कर दे तो उससे भी स्वास्थ्य बिगड़ेगा।

"इसी प्रकार संसार में पाप व्यापक होने लगे तो पुण्यात्मा उसमें निर्लेप हो रह नहीं सकता।

"इसी कारण धर्मात्मा समाज की आवश्यकता रहती है। धर्मात्मा राज्य और राजा की आवश्यकता रहती है। और इसी कारण धार्मिक शक्तियों को संगठित करने की भी आवश्यकता रहती है।"

मुझे कृष्ण के प्रासाद में आये हुए एक मास से ऊपर हो चुका था। इस काल में मुझको कृष्ण के कर्मों और विचारों का अन्तरंग ज्ञान प्राप्त हुआ। इस काल में जो कुछ संशय मेरा उसके भगवान के अवतार होने के विषय में था, वह क्षीण हो गया। मैं यह समझ गया था कि वह अमित शक्ति का स्वामी है। इस पर भी वह अपनी शक्ति का प्रयोग किसी को विवश करने में करना नहीं चाहता था।

द्वारिका से कुछ अन्तर पर समुद्र में कुछ द्वीप थे। उन द्वीपों में एक दूर देश के रहने वालों ने अधिकार कर लिया था। उन द्वीपों से कृष्ण उन म्लेच्छों को निकाल बाहर करना चाहते थे। ऐसा करने के लिये लाखों स्वर्ण का व्यय था। सैनिक नौकाओं के बनाने की आवश्यकता थी। उनके राज्य की समिति ने यह व्यय स्वीकार नहीं किया।

जब श्रीकृष्ण ने अपनी इस असफलता का वर्णन मेरे सामने किया तो मैंने पूछ लिया, "भगवन्! क्या अपने परिवार वालों को भी आप समझा नहीं सके?"

"नहीं। इसमें कारण है। उनके मन स्वार्थ तथा लोभ से आच्छादित हो मलिन हो रहे हैं। उस मलिनता की उपस्थिति में कोई भी प्रेरणा कार्य नहीं कर सकती। उस मलिनता को दूर करने का केवल एक ही उपाय है। वह है, सद् उपदेश।

"मैं भय दिखाकर अथवा मिथ्या लोभ से उनको प्रेरणा दे सकता था। परन्तु यह तो मन को निर्मल करने के स्थान पर कुंठित करने का कार्य था। मैंने यह नहीं किया।"

"तो फिर आप सरीखी दैवी शक्तियों का क्या लाभ हुआ?"

इस पर वह हँस कर बोले, "किसने कहा है आपको कि मैं कोई दैवी शक्ति हूँ?"

"एक बार इन्द्र ने कहा था।"

"वह दैवी शक्ति के अर्थ समझे नहीं। मैं अपनी शक्ति का प्रयोग उसके लिए करता हूं जो स्वयं शुद्ध मार्ग पर चल रहा हो। संशयात्माओं के लिए मेरी दैवी शक्ति का प्रयोग नहीं है।"

इस समय एक अन्य घटना घटी। एक दिन पूर्ण राज-प्रासाद में भारी हल-चल मच गयी। उस दिन सायंकाल कथा सुनने भी कोई नहीं आया। मैं इस पर आश्चर्य कर रहा था कि हमारे आगार में महारानी रुक्मिणी आईं और पूछने लगीं, "तात् ! आज कथा सुनने कोई नहीं आया ?"

"हां महारानी जी ! क्या बात है ? कुछ कहीं अशुभ हो गया है क्या ?"

"अभी कहा नहीं जा सकता कि शुभ हुआ है, अथवा अशुभ। इस पर भी सर्वथा अप्रत्याशित है।"

"क्या हुआ है ?" मैं और उर्मिला खड़े हो गये थे। मैंने महारानी के बैठने को आसन दिया, परन्तु वह बैठी नहीं। अतएव हमें भी खड़े ही रहना पड़ा। मैंने पूछ लिया, "क्या, वह बात बताने योग्य नहीं है ?"

"अब तो सबको पता चल गयी है। आपको भी पता चल जायेगी। सुभद्रा का अपहरण हो गया है।"

"सत्य ? किसने किया है ?"

"अर्जुन ने। परिवार के सब लोग सभा-भवन में एकत्रित हो विचार कर रहे हैं कि इस परिस्थिति में क्या किया जाये ?"

"आज मध्याह्न के भोजनोपरान्त सुभद्रा रैवतक पर्वत पर भ्रमणार्थ गयी थी। वहां अर्जुन ने उसको देखा और उसको अपने रथ में बैठा कर चल दिया। सुभद्रा के साथ गयी सखियों और दासियों ने यह सूचना दी है। इस पर सभा-भवन में विचार हो रहा है।"

उस समय मुझको अर्जुन की यह दुष्टता प्रतीत हुई थी। मैं अपने आगार में खिड़की के पास खडा हो, सभा-भवन की ओर देखने लगा। सभा-भवन का द्वार वहां से दिखाई देता था। रुक्मिणी तो कथा सुनने के लिए न आ सकने पर क्षमा-याचना करने के लिए ही आयी थी। वह चली गयी। मैं और उर्मिला सभा-भवन में हो रही पांडवों

और अर्जुन की निन्दा की कल्पना करते हुए उसके द्वार पर देख रहे थे।

हमें देखते हुए अभी कुछ काल ही हुआ था कि सभा-भवन में से तीनों वंशों के प्रमुख व्यक्ति शान्त भाव से निकले और अपने-अपने घरों को चल दिये।

सबसे अन्त में कृष्ण निकला और निकलते ही अपने रथ पर सवार हो राज-प्रासाद के बाहर को चला गया। मैं इसका अर्थ समझ नहीं सका। मैंने उर्मिला को रुक्मिणी के आगार में भेजकर समाचार जानने के विषय में कहा।

रुक्मिणी देवकी के कक्ष में थी। उर्मिला वहाँ जा पहुंची। जब वह वहां गयी तो देवकी ने बता दिया, "वंश के सब लोग अर्जुन का पीछा कर उससे युद्ध कर सुभद्रा को वापस लाने के पक्ष में थे। परन्तु कृष्ण ने उनको मना कर दिया है। कृष्ण का कहना है कि उसको अर्जुन पर विश्वास है कि उसने यह अपहरण नहीं किया। यह अवश्य सुभद्रा की अनुमति से विवाह का निश्चय है।

"कृष्ण के पिता ने पूछा था, 'यदि यह सब दोनों की अनुमति से हुआ है, तो चोरी करने की आवश्यकता क्या थी?'

"कृष्ण का उत्तर था, 'यह तो अर्जुन स्वयं बता सकेगा।'

"इस पर निर्णय हुआ कि कृष्ण जाकर अर्जुन को वापस ले आये। सुभद्रा और अर्जुन दोनों आयें और कृष्ण की मां के सामने पृथक्-पृथक् अपने मन के भाव बतायें। यदि कृष्ण का अनुमान ठीक हो तो दोनों का विधिपूर्वक विवाह कर दिया जाये।

"अब कृष्ण अर्जुन को ढूंढने गया है। कृष्ण का अनुमान है कि पुष्कर राज्य की ओर वे भागे हैं। आज रात को वे जहाँ भी ठहरेंगे, वहां वह उनको पकड़ सकेगा।"

इस सब समाचार से मेरा समाधान नहीं हुआ। मुझको भय था कि कहीं अर्जुन और कृष्ण की परस्पर ठन गयी तो भारी अनिष्ट होगा। भारत में जो कुछ धर्म का उत्थान हो रहा है, वह सब मिट्टी में मिल जायेगा।

रात-भर मैं विचार में लीन रहा। अगले दिन बहुत प्रातःकाल

ही प्रासाद के आंगन में रथों के आने की गड़गड़ाहट हुई। मैं उठकर आगार की खिड़की से देखने लगा। दो रथ थे, एक में कृष्ण और सुभद्रा थे, दूसरे में अर्जुन था।

अर्जुन अपने कक्ष में चला गया और सुभद्रा तथा कृष्ण अपने माता-पिता के कक्ष में चले गये।

मैं अपने आगार से निकल अर्जुन के आगार के बाहर जा खड़ा हुआ। अर्जुन आया और मेरे समीप आ मेरी तरफ मुस्कराकर देखने लगा। कुछ विचार कर बोला—"संजय जी ! आइये।"

मैं उसके साथ उसके आगार में चला गया। अर्जुन जब आसन पर बैठ गया तो मैंने खड़े-खड़े ही पूछ लिया, "कुमार ! यह सब कैसे हो गया ?"

"यह सब एक योजनानुसार था और आज वह योजना पूर्णता को पहुंच जायेगी।"

"यह योजना केवल आपकी ही थी अथवा इसमें कोई अन्य भी सम्मिलित था।"

वह हँस पड़ा। हंसते हुए उसने कहा, "आप क्या समझते हैं ? यह सुन्दर रथ मुझको कहां से मिल गया ? रैवतक पर पहरा लगा था ? यदि सुभद्रा हल्ला करती तो वहां के लोग मुझको पत्थर मार-मारकर यमलोक पहुंचा देते। मैंने सुभद्रा को कहा, 'देवी ! चलो !' वह अपनी सखियों को छोड़ मेरे रथ के समीप आ खड़ी हुई। मैंने उसको रथ पर चढ़ने का संकेत किया तो वह बोली, 'उठाकर रथ में बैठा दीजिये।' इससे उसकी सखियां समझीं कि मैंने अपहरण किया है।"

मैंने कहा, "मुझे भी कुछ ऐसा ही समझ में आया था। परन्तु कुमार ! श्रीकृष्ण से सम्मति कर लेते तो यह सब नाटक करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे जो स्वयंवर में से रुक्मिणी को उठा लाये थे, आपका सुभद्रा को वरना बुरा न मानते।"

"सब उनकी तथा युधिष्ठिर महाराज की अनुमति से हुआ है। मैंने सुभद्रा देवी को प्रभास में देखा था और तभी से मैं उसको पत्नी बनाने की चिंता कर रहा था। पहले मैंने सुभद्रा की अनुमति मांगी।

मुझको वह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि वह तो पहले ही मुझ पर मोहित थी। उसका विचार था कि उसके माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी यह विवाह पसन्द नहीं करेंगे। मैंने अपने मन के भाव कृष्ण से कहे। उनकी स्वीकृति मिल गयी। उनका भी यही विचार था कि सुभद्रा का अपहरण करना पड़ेगा। वे भी यही समझते थे कि उनके माता-पिता स्वेच्छा से नहीं मानेंगे।

"अतः मैंने अपने विचार युधिष्ठिर जी को लिख भेजे। कल उनकी अनुमति आई कि कृष्ण की सम्मति से काम करो। इस कारण कृष्ण ने नियत स्थान पर मुझसे मिलना ही था और उसने मेरा विवाह सुभद्रा से करना ही था।

"योजना में अन्तर यहां आया कि कृष्ण ने अपने सब सम्बन्धी-जनों को इस विवाह के लिए राजी भी कर लिया है।

"रात कृष्ण पहुंचे तो हम उनकी प्रतीक्षा में थे। उन्होंने पहुंचते ही बताया कि विवाह द्वारिका में होगा। जब कृष्ण ने अपने सब सम्बन्धियों को बताया कि मैं अकेला ही उनकी पूर्ण सेना को अपने आग्नेय अस्त्र से भस्म कर सकता हूं तो वे विवाह करने के लिए राजी हो गये। वे केवल यह जानना चाहते हैं कि सुभद्रा इसके लिए तैयार है अथवा नहीं। अतः हम दोनों को लौट आना पड़ा।"

मैंने इस वृत्तान्त पर संतोष प्रकट कर कहा, "कुमार! मैं एक बात जानता हूं। वह यह कि एक बहुत बड़ा युद्ध होने वाला है। उस युद्ध में मुख्य पक्ष होंगे कौरव और पांडव। संसार की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि पांडवों की जीत हो। इस कारण पांडवों को अपने अधिकाधिक मित्र और सहायक बनाने चाहियें। जिधर कृष्ण होगा, जीत उसी ओर होगी।"

"तात्!" अर्जुन ने गम्भीर होकर कहा, "मैं भविष्य के विषय में तो कुछ नहीं कह सकता। परन्तु इतना जानता हूं कि कृष्ण हमारे परम हितैषी हैं। मेरी आत्मा उनके विना व्याकुल रहती है।

"आज की घटना से पूर्व मैं यह समझता था कि यह भावना केवल मेरी उनके प्रति है। परन्तु अब मुझको विश्वास हो गया है कि वे भी मुझसे प्रेम करते हैं।

"जब मैंने उनको बताया कि मैं सुभद्रा से विवाह करना चाहता हूं तो उन्होंने केवल एक प्रश्न किया, क्या सुभद्रा यह चाहती है ?

"मेरा उत्तर था, 'भैया ! वह मुझको बहुत पसन्द करती है। मैंने उससे पूछा है और वह कहती है कि वह मेरे साथ भाग जाने को तैयार है। उसको अपने माता-पिता की स्वीकृति की किंचित्-मात्र भी आशा नहीं है।

"कृष्ण ने हँसते हुए कहा, 'सुभद्रा ठीक कहती है। मेरे माता-पिता की बात छोड़ो। यहां के सब मुख्य व्यक्ति तुम पांचों भाइयों को अनियमित ढंग से उत्पन्न सन्तान मानते हैं। वे तुमको अपने से हीन प्राणी समझ, अपनी लड़की तुममें से किसी भाई को देने को तैयार नहीं हैं। अतः सुभद्रा की योजना ही ठीक रहेगी। यह होना चाहिए कि वह तुम्हारे साथ भागे नहीं, प्रत्युत तुम उसका अपहरण कर ले जाओ।

"नियत स्थान पर कृष्ण आया तो उसने बताया कि लोग पीछा करने की तैयारी करने लगे थे। जब सब अपनी सम्मति दे चुके तो बलराम ने मुझको चुप और गम्भीर देख समझ लिया कि मैं उनकी युद्ध की तैयारी को ठीक नहीं समझता। अतः उसने उनको मेरी सम्मति मांगने के लिए कहा। पिताजी ने मुझको चुप देख मेरी चुप्पी का कारण पूछा।

"मैंने बता दिया, 'मैं इस कारण चुप हूं कि आप सब लोग मेरी बहिन से स्नेहवश हो यह सब तैयारी कर रहे हैं। मैं बीच में बोल-कर आपके स्नेह का अनादर नहीं करना चाहता। यदि मेरे मन की बात पूछो तो मैं अर्जुन को इतना पतित नहीं मानता कि वह सुभद्रा की इच्छा के बिना उसको ले गया होगा। मुझे विश्वास है कि अवश्य ही सुभद्रा की इच्छा उससे विवाह करने की रही होगी।

'मैंने भी तो महारानी रुक्मिणी का उसके माता-पिता की इच्छा के विपरीत अपहरण किया था। उसमें विशेषता यह थी कि रुक्मिणी ने मेरा आह्वान किया था।

'मुझे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सुभद्रा की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी रुक्मिणी की थी।

'इस पर भी जब आप उसका पीछा करने को तैयार हैं तो मैं आपको मना नहीं कर सकता। मैं तो यह विचार कर रहा था कि यदि सुभद्रा स्वेच्छा से अर्जुन के साथ गयी है तो उसके जाने में बाधा डालना अपनी लड़की से अन्याय हो जायेगा।

'इस पर बलराम ने अपनी टेढ़ी दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा, "कृष्ण! यह कथन सुभद्रा के प्रति स्नेह का सूचक है, अथवा अर्जुन के प्रति मैत्री का?"

"कृष्ण का कहना था, अर्जुन अजित है। उसको आपकी पूरी सेना भी परास्त नहीं कर सकेगी। उसके पास आग्नेय अस्त्र है और वह उसके प्रयोग से एक क्षण में पूर्ण सेना को विध्वंस कर देगा।

"तो फिर तुम क्या करने को कहते हो?" सबने भयभीत हो पूछ लिया।"

"कृष्ण का कहना था, 'सुभद्रा से एकान्त में पूछना चाहिए कि वह क्या चाहती है? यदि उसकी इच्छा अर्जुन को वरने की ही हो, तो दोनों को यहां लाकर, उनका विधिपूर्वक विवाह कर देना चाहिए और यदि सत्य ही सुभद्रा पर बलात्कार हुआ है तो अर्जुन से लड़कर उसकी हत्या कर देनी चाहिए। तब मैं भी अपने सुदर्शन चक्र के साथ आपके साथ चलूंगा। तब सुदर्शन चक्र और आग्नेय अस्त्र का युद्ध हो जायेगा। मुझे विश्वास है कि सुदर्शन चक्र की विजय होगी।"

"कृष्ण के बिना यहां के रहने वालों को अपनी विजय की आशा नहीं रही थी। वे मान गये और उसके पश्चात् मैं यहां आया हूं।"

: १२ :

मैंने मन में विचार किया कि यदि अर्जुन की कथा सत्य है तो इस घटना में कोई लज्जाजनक अथवा अनीति की बात नहीं हुई।

मैं अभी अर्जुन से वार्तालाप कर अपना समाधान कर ही रहा था कि कृष्ण और रुक्मिणी अर्जुन को बधाई देने वहां आ गये। रुक्मिणी ने कहा, "लो जीजा जी! हमारी आपको बधाई हो! माता जी ने सुभद्रा को आशीर्वाद दे दिया है।" इतना कहती-कहती वह हँस पड़ी।

कृष्ण ने बताया, "इस तुरन्त मिलने वाले आशीर्वाद का श्रेय हमारी रानी जी को ही है। जब सुभद्रा को लेकर मैं माता-पिता के पास पहुंचा तो ये पहले ही वहां उपस्थित थीं। पिताजी ने सुभद्रा को देखते ही डांटना आरम्भ कर दिया—'नीच, पतिता, कुलांगार ! अब किसलिए आई हो यहां ?'

"सुभद्रा तो इस प्रकार के व्यवहार की आशा नहीं करती थी। वह भौंचक्की-सी खड़ी रह गयी। उस समय यह रानी जी उस बेचारी की सहायता के लिए कहने लगीं—'पिताजी, यह तो अन्याय हो रहा है। आपने न केवल सुभद्रा के साथ अन्याय किया है, प्रत्युत मुझको और माताजी को भी गालियां दी हैं।''

"पिताजी इस बात को सुन रुक्मिणी का मुख देखने लगे। रुक्मिणी ने कह दिया, 'आपने यह जाने बिना कि वह स्वयं अर्जुन के साथ गयी है, अथवा वह इसको बल-पूर्वक ले गया है, गालियां देनी आरम्भ कर दी हैं अर्थात् माता-पिता की आज्ञा के बिना सब विवाह करने वाली नीच, पतित और कुलांगर होती हैं। सो तो मैं हूं। माता देवकी जी भी हैं। अनेकों राजकुमारियां भी इसी गाली की भागी हो जायेंगी।'

"माता देवकी की बात सुनकर पिताजी की आंखें झुक गयीं। इस पर माताजी ने सुभद्रा को प्यार से समीप बैठाकर पूछ लिया, 'सुभद्रा बेटी ! तुम क्या चाहती हो ?'

'मां !' उसने कहा, 'जो चाहती थी वही करने जा रही थी। मैं क्षत्रिय-कन्या हूं। यदि मेरे साथ बलात्कार होता तो मैं वहां ही अपना शरीर त्याग देती। आपने यह कैसे समझ लिया कि आपकी लड़की इतनी दुर्बलात्मा है कि मरने से डरती है। वे बहुत भी भले पुरुष हैं। आज से दो मास पूर्व उन्होंने मुझसे इस विषय में पूछा था। मैं उनका प्रस्ताव सुन गद्‌गद प्रसन्न हो गयी थी। उन जैसे ख्याति प्राप्त योद्धा की पत्नी बनना एक परम सौभाग्य की बात है।

"साथ ही वे मुझको इन्द्रप्रस्थ लिए जा रहे थे, बड़े भाई युधिष्ठिर और माता कुन्ती की उपस्थिति में विवाह के लिए।'

"यह सुन माताजी ने कह दिया, 'सौभाग्यवती होओ। पुत्र-पौत्रों

का मुख देखो, सौ वर्ष तक जियो और सब प्रकार के सुख ऐश्वर्य का भोग करो ।'

"पिताजी अपने क्रोध पर स्वयं लज्जित थे। उन्होंने आंखों से आंसू बहाते हुए सुभद्रा को आशीर्वाद दिया। साथ ही उसको देने के लिए रथ, भूषण, वस्त्रादि की योजना बना दी है।"

इस पर मैंने अर्जुन को बधाई दी और आशीर्वाद दे अपने आगार में चला गया। रात-भर न सो सकने के कारण मैं थक रहा था। अतः जाकर मैं सो गया।

अगले दिन अर्जुन और सुभद्रा का विवाह हुआ। पूर्ण नगर में इसकी धूम-धाम रही। बहुत से भूषण, वस्त्र, रथ और अश्व दहेज में सुभद्रा को दिये गये। द्वारिका के दूसरे वंश के लोगों ने भी सुभद्रा को नाना प्रकार की वस्तुएं भेंट में दीं।

मैं अभी द्वारिका में ही था कि अर्जुन सुभद्रा को लेकर वहां से विदा हो गया। अर्जुन का विचार था कि वह पुष्करराज में दो वर्ष तक रहकर अपने घर से बाहर रहने की अवधि समाप्त करेगा। वहां से वह हस्तिनापुर जायेगा।

अर्जुन के विदा होने के पश्चात् मैं एक मास तक वहां रहा। इस समय मैं पूर्ववत् दो समय कथा करता रहा। जब मैं वहां से विदा हुआ तो कृष्ण ने एक सौ एक स्वर्ण दक्षिणा के रूप में मुझको दीं।

मैं घूमता हुआ दो वर्ष बाद हस्तिनापुर जा पहुंचा। मेरे वहां पहुंचने से पूर्व अर्जुन सुभद्रा सहित हस्तिनापुर पहुंच चुका था।

द्वितीय परिच्छेद

: १ :

यह था अंत माणिकलाल के भेजे हुए टाइप किये कागजों के द्वितीय पुलिन्दे का। मैं इसको पढ़कर कई दिन तक इस महाभारत की कथा के वैचित्र्य पर विचार करता रहा। इसमें अनेकानेक प्रकार की कथायें हैं। उनमें कुछ तो सत्य प्रतीत होती हैं। कुछ कोरी कल्पना ही प्रतीत होती हैं। सत्य अथवा कल्पना, सबकी सब एक ही दृष्टि-कोण को लेकर लिखी गयी हैं।

माणिकलाल का कथन सर्वथा सत्य था कि महाभारत लिखने का कुछ उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्य घटनाओं के साथ-साथ कल्पना भी सम्मिलित है।

माणिकलाल ने पहली भेंट के समय बताया था कि उद्देश्य मुख्य है। उसको समझकर ही किसी पुस्तक का मूल्यांकन किया जा सकता है।

अब मेरे मन में यह जानने की उत्सुकता उत्पन्न हो गयी थी कि वृत्तान्त जो कि माणिकलाल ने लिखा है, क्या उसमें भी कल्पना सम्मिलित है? वह लिख इस ढंग से रहा था, जैसे उसने सब कुछ अपनी देखी, अनुभव की हुई और मनन की हुई बातें ही लिखी हैं। यदि यह माना जाये कि माणिकलाल की स्मृति, इतनी प्रवल हो गयी है कि वह अपने संस्मरण ही लिख रहा है, तब तो कल्पना नहीं होनी चाहिए। यदि ये घटनाएं सत्य हैं तो महाभारत में लिखे से कम और कुछ अंशों में भिन्न होते हुए भी अद्‌भुत हैं।

मैं अब माणिकलाल के दिल्ली आने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगा। इस महाभारत की कथा के विषय में पूछने वाली बातों के अतिरिक्त भी दिनेश के विषय में मुझको चिन्ता लग रही थी।

यद्यपि माणिकलाल ने यह लिखकर मुझको सांत्वना दी थी कि दिनेश का सम्बन्ध उसकी पत्नी से नहीं है, तो भी मुझको पूर्ण रूप से संतोष नहीं हुआ था।

मेरा दृढ़ मत था कि दिनेश को अपने पूर्व जन्म का आभास करा देना चाहिए। इस कारण मैं दिनेश के विषय में जानने के लिए भी और उसका माणिकलाल से सम्बन्ध समझाने के लिए भी उनके दिल्ली आने की इच्छा करने लगा।

आखिर वह समय आया और निश्चित समय वे हवाई जहाज से पालम-एयरोड्रोम पर पहुंच गये। वहां से टैक्सी कर, मैं उनको अपने घर ले आया।

हवाई जहाज के अड्डे पर ही माणिकलाल, मेरे चरण स्पर्श करने लगा तो मैंने उसको अपने गले से लगा लिया। नोरा ने भी 'पाय लागू' की तो उसके सिर पर हाथ रखकर मैंने आशीर्वाद दिया। नोरा की गोदी में लड़के को देखा। वह बहुत सुन्दर था।

मेरे विस्मय का ठिकाना न रहा जब दिनेश ने भी मेरे चरण-स्पर्श किये। मैंने उसको आशीर्वाद दिया। इस समय उसकी मां उसको ऐसा करते देख, मुस्करा रही थी।

हम सब घर पहुंचे तो सबसे पहले मैंने दिनेश से पूछ लिया, "यह चरण-स्पर्श की बात कहां से सीख आये हो?"

"भाभी ने सिखाई है। वे स्वयं नित्य प्रातःकाल दादा के चरण स्पर्श किया करती हैं। मुझे भी ऐसा करने के लिए कहने लगीं। विवश हो मैं भी करने लगा। माताजी के भी चरण स्पर्श करने लगा हूं। पहले तो कुछ अजीब-सा ही मालूम होता था, परन्तु अब आदत हो गयी है, और इसमें कुछ रस भी आने लगा है।"

"तब तो तुम्हारी भाभी का धन्यवाद करना चाहिए। जो कुछ तुम चार वर्ष हिन्दू-यूनिवर्सिटी में रहकर नहीं सीख सके, वह उनके घर पर दो मास रहकर ही सीख गये हो।"

"पिताजी! वह बहुत अच्छी हैं।"

"सत्य! क्या गुण है उनमें?"

"वह कभी झूठ नहीं बोलतीं। कभी-कभी तो भारी भूलकर बैठतीं

हैं परन्तु उसको छुपाने के स्थान सत्य-सत्य दादा को बता देती हैं। उनके मन में किसी के लिए भी द्वेष नहीं है। सबसे प्रेममय व्यवहार रखती हैं। माताजी का तो वह बहुत ही आदर करती हैं। उनको माताजी का मान करते देख मुझे भी अपनी माताजी के प्रति भावों के लिए लज्जा लगने लगी। उनको देख मैं भी उनका आदर करना सीख रहा हूं।

"पिताजी, वह और भी बहुत से गुण रखती हैं। मेरे नाट्य कला के अभ्यास में वह बहुत ही सहायक हुई हैं। वे अपने कालेज के दिनों में अपने कालेज की ड्रामैटिक क्लब की सदस्या रही हैं। अपनी इस कला के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति को उन्होंने अभ्यास से बहुत उन्नत किया है।"

"दिनेश!" मैंने वार्त्तालाप का विषय उसकी भाभी के स्थान नाट्यकला कर दिया। मैंने कहा, "मैं अभी तक नहीं समझ सका कि तुम इसको सीखकर क्या करोगे?"

"पिताजी! किसी भी कला के दो उद्देश्य होते हैं। एक आत्मोन्नति और दूसरा लोकोन्नति। मेरे मन में तो लोकोन्नति मात्र ही उद्देश्य था, परन्तु दादा ने समझाया है कि आत्मोन्नति के विना लोकोन्नति हो ही नहीं सकती। अतः वे मुझको नृत्य-संगीत कला और नाट्य कला का शरीर, मन और आत्मा पर प्रभाव बताते रहते हैं और भाभी उन भाव-भंगिमाओं को बताती रहती हैं जो नाटक में प्रयोग होती हुई भी अपने पर प्रभाव रखती हैं। इस प्रकार मेरी कला की शिक्षा तीन गुरुओं से चल रही है। एक तो काउसजी जहाँगीर मुझे अपने साथ अपनी नाटक कम्पनी में ले जाकर बताते हैं। दूसरे, भाभी वहां से प्राप्त शिक्षा को अन्तर्मुखी करने का ढंग बताती रहती हैं और तीसरे दादा उस कला के सार पर अपने विचार बताया करते हैं।

"परिणाम यह हो रहा है कि मैं अभी से ही एक विख्यात नाटक-मंडली का निर्माण कर देश-विदेश जाने के स्वप्न देखने लगा हूं।"

उसी रात मैंने दिनेश को माणिकलाल के पूर्व-जीवन का कुछ परिचय देने का यत्न किया। मैंने दिनेश से कहा, "तुम्हें यह ज्ञात

होना चाहिए कि माणिकलाल और नोरा क्यों तुमसे इतना स्नेह रखते हैं ? वे तुम्हारी शिक्षा में इतनी रुचि क्यों ले रहे हैं।"

"मैं जानता हूं पिताजी ! दोनों सज्जन हैं।"

"हां; यह तो है ही। इस पर भी उनका तुमसे एक विशेष सम्बन्ध है।"

मेरे इस कथन को सुन दिनेश विस्मय में मेरा मुख देखने लगा। मैंने उसको अपनी पिछले वर्ष की बम्बई से दिल्ली तक की यात्रा का पूर्ण विवरण सुना दिया। दिनेश का मुख आश्चर्य से खुला रह गया। जब मैंने उसको बताया कि माणिकलाल पैंसठ वर्ष का वृद्ध व्यक्ति है तो उसको विश्वास नहीं हुआ। जब मैंने उसको बताया कि उसकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र हो चुकी है कि उसको आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व की बातों की याद है, तो वह इस बात को असम्भव समझ हँसने लगा। परन्तु धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों मैं उसका वृत्तान्त सुनाता गया, तो वह मुझको विश्वास करता देख, चुप हो गया।

जब मैं यह बता चुका कि नोरा माणिकलाल की उस काल में पत्नी थी। उसके अतिरिक्त उसकी एक देवकन्या भी पत्नी थी और उस देवकन्या से एक पुत्र था, जो वह है, तो वह गम्भीर विचार में पड़ गया। मैंने दिनेश को माणिकलाल द्वारा ही लिखित वृत्तान्त दे दिया। मैंने कह दिया, "लो, यह पढ़ लो।

"देखो दिनेश ! मैं माणिकलाल से आयु, अनुभव और योग्यता में कम हूं परन्तु उसका मेरे साथ एक पूर्व जन्म में सम्बन्ध रहा है। इसी कारण वह मुझको अपना पिता तथा तुम्हारी माता को अपनी माता मानता है।

"माणिकलाल कहता है कि महाभारत काल में उसका नाम संजय था। नोरा उस काल में मोदमती थी और तुम उस काल में श्रीकान्त थे। मुझको वह युधिष्ठिर बताता है। मुझे तो उस काल की बातों का स्मरण बिल्कुल नहीं, परन्तु वह कहता है कि, ऐसा ही है। वह अपने जीवन को अपने पूर्व जन्मों की स्मृतियों के आधार पर चला रहा है।

"तुम इस विवरण में पढ़ोगे कि श्रीकान्त उस समय भी संगीत

एवं नृत्य में भारी रुचि रखता था। यह मन पर सब के संस्कारों के अधीन ही हो सकता है।"

उस रात और अगले दिन भी वह माणिकलाल द्वारा लिखे वृत्तान्त को पढ़ता रहा। इस समय तक माणिकलाल अपनी पत्नी और बच्ची को लेकर अमृतसर जा चुका था। उसने जाते हुए वचन दिया था कि पन्द्रह दिन तक वह अमृतसर में ठहरकर वापस दिल्ली आयेगा। दिल्ली में वह एक सप्ताह तक ठहरेगा। तत्पश्चात् दिनेश को लेकर बम्बई पुनः लौट जायेगा।

माणिकलाल द्वारा लिखित वृत्तान्त पढ़कर दिनेश ने मुझको कहा, "पिताजी! यह वृत्तान्त तो अधूरा है।"

"हां। माणिकलाल इस वृत्तान्त का तीसरा भाग अमृतसर से लौटने पर देने वाला है।"

"मैं भाभी में एक अद्भुत आकर्षण अनुभव करता हूं। मैं नहीं जानता कि वह आकर्षक कैसा है। अब आपके कथन और दादा द्वारा लिखे वृत्तान्त को पढ़कर, इस आकर्षण का रहस्य समझने लगा हूं। यूं तो भाभी मां के तुल्य होती ही हैं। परन्तु उनका मेरे साथ वास्तविक मां का-सा वात्सल्य है, मैं अब समझ गया हूं।

"परन्तु पिताजी! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह रहस्य भाभी को ज्ञात नहीं है। उनके व्यवहार में अनिश्चितपन से मैं ऐसा अनुमान लगा रहा हूं। आप दादा से कहिए कि वह अपनी जीवन-कथा उनको भी बता दें।"

दिनेश के इस कहने से मेरे मन में पुनः संदेह हो गया कि नोरा के मन में वह पवित्रता नहीं है जो पुत्र अपनी मां से आशा करता है। इससे मैंने मन में निश्चय कर लिया कि माणिकलाल को दिनेश के इस संकेत का परिचय दे दूंगा।

मैंने तुरन्त बात बदल दी। मैंने कहा, "दिनेश! मैं तुम्हारे विवाह का प्रबन्ध कर रहा हूं। मैं चाहता हूं कि तुम लोगों के बम्बई जाने से पूर्व ही यह हो जाये।"

दिनेश इस घोषण से गम्भीर विचार में पड़ गया। मैंने उससे पूछा, "क्यों, क्या विचार कर रहे हो?"

दिनेश ने मेरे प्रश्न का उत्तर न देकर पूछ लिया, "क्या आपने किसी को वचन दे रखा है ?"

"नहीं। वचन तो नहीं दिया। परन्तु अपनी बिरादरी से कई संदेश आ रहे हैं। एक तो तुम्हारी माताजी की फूफी की लड़की है। साधना को तुम जानते ही हो।"

"पिताजी ! मेरा आग्रह है कि अन्तिम निर्णय से पूर्व आप एक अन्य लड़की को भी देख लें।"

"कौन है वह ?"

"वह बम्बई में है।"

"माणिकलाल को दिखाई है, क्या ?"

"जी अभी नहीं। अभी तो मैंने लड़की से भी बात नहीं की। इस पर भी मेरा विचार है कि वह मुझको अस्वीकार नहीं करेगी।"

"तो तुम्हारा कहना है कि मैं बम्बई की यात्रा करूं ?"

"क्या हानि है ! वह नगर भी तो दर्शनीय है।"

"मैंने उसके दर्शन किये हैं।"

"एक बार और सही। कदाचित् वहां के अवगुणों को वह लड़की कुछ कम कर दे।"

मेरी हंसी निकल गयी। इस पर भी मैंने हंसी का कारण नहीं बताया। मैंने कह दिया, "तुम्हें वह लड़की अपनी माँ को दिखा देनी चाहिए थी।"

"पिताजी ! मुझको यह विदित नहीं था कि आप मेरे विवाह के विषय में इतनी शीघ्रता करने लगेंगे। यदि विदित होता तो मैं उस लड़की से बातचीत करता और माताजी तथा दादा को दिखा देता।"

"वह किसकी लड़की है ?"

"नाटक कम्पनी, जिसमें मैं काम सीखने जाता हूं, के मालिक काउसजी की लड़की हैलेन है।"

"तो वहां नाटक करती है ?"

"जी नहीं। वह हारमोनियम बजाती है। यूं तो अन्य वाद्ययंत्र भी बजा लेती है। परन्तु हारमोनियम बजाने में वह बहुत ही कुशल

है ।"

दिनेश की इस सूचना से मुझको कुछ प्रसन्नता नहीं हुई। केवल एक बात संतोषजनक थी। वह यह कि दिनेश कह रहा था कि मैं उस लड़की को देख लूं। अर्थात् उसको विश्वास है कि मैं उस लड़की को पसन्द करूंगा। इसका यह स्वयंसिद्ध अर्थ था कि यदि मैं पसन्द नहीं करूंगा तो वह उस लड़की का विचार छोड़ देगा। इस पर भी इस विषय में विश्वास से कुछ नहीं कहा जा सकता था।

: २ :

पन्द्रह दिन के पश्चात् माणिकलाल अमृतसर से लौटा। वह और नोरा दोनों अमृतसर से अति प्रसन्नचित्त लौटे थे। माणिकलाल ने दिल्ली में ठहरने का एक सप्ताह का कार्यक्रम बना रखा था। वह नोरा को दिल्ली के सभी दर्शनीय स्थानों को दिखाना चाहता था। इन दिनों में मुझको माणिकलाल की संगत का पर्याप्त अवसर मिला।

एक दिन उस द्वारा लिखित महाभारत काल के वृत्तान्त पर बातचीत चल पड़ी। युधिष्ठिरजी महाराज! आपने उस काल की कथा पर मेरी विवेचना पढ़ी ?" उसने पूछ लिया।

"यदि विवेचना मात्र होती तो मैं कभी पढ़ता नहीं। महाभारत पर अनेकों विवेचनाएं निकल चुकी हैं। लिखने वाले इसको केवल मन-घड़न्त कहानी से लेकर, मन में होने वाली दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष की रूपक-कथा तक बताते हैं। इन दो सर्वथा भिन्न विवेचनाओं में अनेकों अन्य भी विवेचनाएं उपलब्ध हैं। परन्तु मैं तो आपके लेखों को सत्य मानकर ही पढ़ रहा हूं। इसी कारण आपसे यह पूछना चाहता हूं कि आपने भी कहीं किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक काल्पनिक कथा तो नहीं रच डाली ?"

माणिकलाल ने हँसते हुए कहा, "नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मैं तो केवल वे घटनाएं मात्र लिख रहा हूं जो मेरे ज्ञान में आई थीं। यह सम्भव है कि मेरी स्मरण-शक्ति में अभी वह स्पष्टता न आई हो जो आनी चाहिए, यद्यपि यह कुछ अधिक सम्भव प्रतीत नहीं होती।

"कुछ घटनाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि इतने प्राचीन

काल में, ज्ञान-विज्ञान की वह उन्नति न होने के कारण, जो आज है, उनका उल्लेख असत्य ही है। सुदर्शन चक्र, आग्नेय अस्त्र, वायुयान इत्यादि यंत्रों का उल्लेख कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

"इसमें मेरा केवल मात्र इतना कहना है कि आजकल के अभिमानी वैज्ञानिक यह समझ रहे हैं कि वे ही पहले व्यक्ति हैं जो मस्तिष्क रखते हैं। उनसे पूर्व के प्राणी तो मस्तिष्कविहीन थे। अपने अभिमान में वे यह समझ रहे हैं कि उन्होंने जो कुछ आविष्कार किया है, अब विनाश को प्राप्त नहीं होगा।

"मैं इस विषय में कुछ नहीं कहूंगा। उनको वही बात ठीक समझनी चाहिये, जिसको समझने में उनकी योग्यता है। मेरी भगवान् से यही प्रार्थना है कि परमात्मा उनको समझने की योग्यता दे। वे उन्नति करें, जिससे वे अपने अभिमान में कहीं यह, जो कुछ उन्होंने किया है, खो न दें।

"मेरा यह दृढ़ मत है कि विज्ञान की उन्नति संसार में तानाशाही अर्थात् बुद्धि तथा शक्ति को केन्द्रित होने में प्रोत्साहन देती है। इस केन्द्रीयकरण में ही अभिमान उत्पन्न होता है जो विनाश का मूल कारण माना जाता है।

"अभी तो विज्ञान का क ख ग ही आज के वैज्ञानिक सीखने लगे हैं। कुछ सीख लें फिर वे सब बातें इनमें भी आवेंगी जो उस काल के देवताओं में आ गयी थीं और तब···तब···भगवान् जाने क्या होगा?"

मैंने बात बदल दी। मैंने पूछा, "संजय जी! आपका महाभारत काल के इतिहास को इस प्रकार लिखने का उद्देश्य क्या है?"

"कुछ तो है ही। संसार में कुछ भी निरुद्देश्य नहीं होता। यह यथा समय विदित हो जायेगा।"

"कितने काल में आप अपने जीवन-वृत्तान्त को समाप्त कर सकेंगे?"

"मैं नित्य कुछ न कुछ लिखता रहा हूं। इस पर भी कह नहीं सकता कि उस घटना-प्रधान काल का वृत्तान्त कब तक समाप्त कर सकूंगा। मैंने उस वृत्तान्त से आगे का कुछ और विवरण लिखा है।

परन्तु अमृतसर में और वहां भी लिखने का अवकाश नहीं मिला। बम्बई में समय निकाल कर लिख लेता हूं। वहां नियम से कुछ न कुछ तो अवश्य लिखा जाता है।"

इस समय मैंने बात दिनेश के विषय में आरम्भ कर दी। मैंने कहा, "मैंने दिनेश को आपके पूर्व जन्मों का रहस्य, जितना आपने मुझको बताया है; बता दिया है। इस पर उसका कहना है कि भाभी का व्यवहार अनिश्चित रहता है। मैं समझता हूं कि व्यवहार के विषय में उसके कहने का अर्थ नोरा का उसके प्रति व्यवहार है।"

माणिकलाल ने मुस्कराते हुए कहा, "मैंने नोरा को अपनी योग्यता और उसका अपने पूर्व-सम्बन्ध की कथा बता दी है। उसको मैंने आपके विषय में और दिनेश के विषय में अपने ज्ञान का परिचय भी दिया है। इस पर पहले तो वह लज्जा अनुभव करने लगी। पीछे अपने-आप पर शोक प्रकट करने लगी और अंत में अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप। उसने मुझको बताया है कि मैं दिनेश को सदा अपने पुत्र के समान मानती रही हूं। इस पर भी वह एक सुन्दर युवक है। उसके यौवन से कभी मन में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाना आश्चर्यजनक बात नहीं।

"उसने कहा, 'दिनेश एक बहुत ही पवित्र विचारों वाला युवक है। वह उसके मन की पवित्रता ही है, जो बम्बई जैसे नगर में वह ठीक मार्ग पर रह सका है।'

"मैंने उससे अधिक पूछना उचित नहीं समझा। मैंने अपने सबके परस्पर सम्बन्ध बता कर उसको अपना मार्ग स्वयं बनाने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया है।"

"यह तो अति भयंकर परिस्थिति है।"

"देखिये वैद्यजी!" माणिकलाल ने कह दिया, "हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपने सगे-सम्बन्धियों को ठीक मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। परन्तु यह हमारा अधिकार नहीं कि उन्हें अपने विचारित मार्ग पर चलने के लिये बाध्य करें। कोई बच्चा हो तो उसको रोका भी जा सकता है। अज्ञान व्यक्तियों पर जितना बल प्रयोग किया जायेगा, उतना ही उस बल की प्रतिक्रिया उनमें बनेगी और वह अतिभयंकर

हो सकती है।"

"मैंने विवाह का प्रस्ताव दिनेश के सम्मुख रखा था। इस पर उसने कहा है कि वह बम्बई की एक लड़की से विवाह की इच्छा कर रहा है। वह काउसजी की लड़की है ?"

"ओह ! हैलेन के विषय में कह रहा है ?"

"हां ! आपने उसको देखा है क्या ?"

'हां, वह बहुत सुन्दर है, परन्तु वह तो इस समय अठाईस-उनतीस वर्ष की होगी। जहां तक मेरा विचार है वह दिनेश से छः-सात वर्ष बड़ी है।"

"तो आप उसको दिनेश के लिये उपयुक्त पत्नी नहीं मानते ?"

"मैंने यह नहीं कहा। मेरा अभिप्राय तो यह है कि दिनेश उसके लिये उपयुक्त पति नहीं है।"

"इन दोनों बातों में कुछ अन्तर है क्या ?"

"हां ! यदि वह लड़की माने तो विवाह हो सकता है, परन्तु मैं समझता हूं कि वह मानेगी नहीं। वह दिनेश को अपने अयोग्य मान अस्वीकार कर देगी।"

"तो आप दोनों में आयु के अन्तर को कुछ अधिक महत्त्व नहीं देते ?"

"नहीं। यदि इसको बहुत महत्त्व की बात मानता तो स्वयं नोरा से विवाह न करता। मेरी और उसकी आयु में पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार ही हैलेन और दिनेश की बात है। मैं दिनेश को अभी बच्चा ही समझता हूं। वह सरलचित्त और पवित्रात्मा है। हैलेन एक दुनियादार औरत, अथवा व्यावहारिक भाषा प्रयोग करूं तो, लड़की है। वह बहुत ही चतुर है। उसके विचारों से यह बुद्धू है। मैं यह समझता हूं कि यदि दिनेश ने उससे विवाह की स्वीकृति मांगी तो वह इनकार कर देगी।"

"तब तो ठीक ही है। मैं आप लोगों के साथ बम्बई जाने का विचार कर रहा था। अब मैं नहीं जाऊंगा। आपने उस लड़की को देखा है। यदि तो हैलेन ने स्वीकार कर लिया और आप विवाह रोक नहीं सके तो मैं बम्बई आऊंगा और भाग्य के विधान को स्वीकार कर

लूंगा।"

"ठीक है। आप अभी न आइयेगा। परन्तु क्या यहां उसके विवाह का प्रवन्ध है?"

"प्रवन्ध तो अभी नहीं, हां दिनेश की मां की बूआ वहुत ज़ोर डाल रही है। लड़की सुन्दर तथा पढ़ी-लिखी है। हम सब लड़की को भली-भांति जानते हैं।"

माणिकलाल का दिल्ली में निवास काल समाप्त हुआ। मैंने दिनेश को विदा करते समय यह कहा, "तुम हैलेन से पता कर लो, यदि वह माने और माणिकलाल स्वीकार कर ले तो मैं मान जाऊंगा। अन्यथा तुमको हमारा प्रस्ताव साधना के विषय में स्वीकार कर लेना चाहिए।"

दिनेश का कहना था, "मुझको शत-प्रतिशत तो नहीं, परन्तु उससे कुछ ही कम, हैलेन की स्वीकृति की आशा है।"

"माणिकलाल ने हैलेन को देखा है। वह न तो उसके पक्ष में है न ही विपक्ष में है। उसका विचार है कि कदाचित् हैलेन तुमको स्वीकार नहीं करेगी। इस पर भी यदि वह स्वीकार करेगी तो वह इसमें किसी प्रकार की वाधा उपस्थित नहीं करेगा। उनकी स्वीकृति मेरी स्वीकृति मान लो।"

दिनेश इस आश्वासन से अति प्रसन्न था। वह हैलेन से विवाह की पक्की आशा लेकर दिल्ली से गया था।

दिनेश के जाने के पश्चात् मैं उत्सुकता से उसके हैंलेन से विवाह के विषय में कुछ जानने की प्रतीक्षा करने लगा। दिन के पश्चात् दिन और इसी तरह सप्ताह के पश्चात् सप्ताह व्यतीत होने लगे। दिनेश अथवा माणिकलाल का कोई पत्र नहीं आया।

माणिकलाल को दिल्ली से गये दो मास हो चुके थे। एक दिन पुनः एक पुलिन्दा टाइप किये कागज़ों का, रजिस्टर्ड डाक द्वारा आ गया। अब मैं इस पुलिन्दे से अधिक दिनेश के विषय में जानने के लिए उत्सुक था। मेरी यह उत्सुकता भी शान्त हो गई। इसी पुलिन्दे में एक लम्बी, कई पृष्ठों की चिट्ठी भी थी। इस चिट्ठी को देखते ही मैं समझ गया कि यह अवश्य ही दिनेश और हैलेन के सम्बन्ध में होगी। अतः पहले यह लम्बी चिट्ठी ही पढ़ने लगा था। लिखा था—

"प्रियाा वैद्यजी,

वही हुआ जो मैं कह रहा था। हैलेन ने दिनेश को अस्वीकार कर दिया। इस अस्वीकार करने में उसने दो मास लगा दिये और अंत में उसने कल सायंकाल दिनेश को एक निमंत्रण-पत्र दिया है, जो उसके एक पारसी युवक से विवाह के विषय में था।

"मैं बहुत ही ध्यानपूर्वक दिनेश के उसके आगे-पीछे जाने को देख रहा था। दिनेश ने कई बार उसको अपने घर पर चाय और खाने पर आमंत्रित भी किया। नोरा ने उस लड़की का आदर-सत्कार करने में कोई कमी नहीं रखी। इस पर भी दिनेश सफल नहीं हो सका।

"नोरा का पहले से ही यह विचार था कि यह विवाह न हो। परंतु मेरे कहने पर उसने भी किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली और न ही इस सम्बन्ध का समर्थन ही किया।

"कल जब दिनेश ने वह निमंत्रण-पत्र, जिसमें हैलेन का कोटलवाला से विवाह का उल्लेख था, मेरे सामने रखा और मैंने वह निमंत्रण-पत्र पढ़कर दिनेश के मुख पर देखा तो मुझको ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके मुख पर संतोष की झलक है। मैंने उससे पूछ ही लिया, 'क्यों दिनेश ! क्या इस घटना पर बहुत शोक है?'

"जी, शोक नहीं है। निराशा अवश्य है। परन्तु यह निराशा इस कारण नहीं कि उसने मुझको अस्वीकार कर दिया है, प्रत्युत इस कारण है कि मैं उसके चरित्र का गलत अनुमान लगा बैठा था।

'दादा !' दिनेश ने आगे कहा, 'यह कोटलवाला काउसजी सुहराबजी टैक्सटाइल कम्पनी के मालिक का लड़का है। इस समय इस कम्पनी का कैपिटल तीन करोड़ रुपया है। हैलेन ने एक दिन मुझको बताया था कि वह मुझसे प्रेम करती है। परन्तु प्रेम बिना धन की मिठास के कड़वा लगने लगता है।

'एक दिन उसने यह भी बताया था कि रंगमंच पर जो प्रेम की व्याख्या हम नाटककार करते हैं, यह वास्तविक नहीं होती। धन एक महान् शक्ति है।

'मुझको उसकी बातों से कुछ ऐसा समझ आ रहा था कि अवश्य कोई धनी आदमी मेरी प्रतिस्पर्धा कर रहा है और बेचारी हैलेन प्रेम

और धन के लोभ में फंसी ठीक निर्णय नहीं कर पा रही। जब मुझको उसके मन की इस अवस्था का आभास हुआ तब मैंने पूछा था, हैलेन ! मैं आशा छोड़ दूं क्या ?

'उसने कहा था, 'मेरा यह मतलब नहीं है। मैं आपसे प्रेम करती हूं, परन्तु मैं यह सोचती हूं कि बिना धन के जीवन किस प्रकार चल सकेगा।

'मेरा उसको कहना था, हैलेन डीयर ! साहस बांधो। निर्वाह योग्य तो हम पैदा कर ही लेंगे।

'इस पर वह कह दिया करती थी, 'मुझको विचार करने का अवसर दो।'

"मैंने दिनेश से पूछा, 'तो क्या अब तुम्हारे पिताजी को लिखूं कि साधना से बात पक्की कर दी जाये।'

"उसने कहा है कि वह स्वयं दिल्ली आयेगा और वहां जाकर अंतिम निर्णय लेगा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ है कि वह साधना को देखना चाहता है। उसने कहा है कि उसे देखे छः वर्ष हो चुके हैं।

"दिनेश अगले सप्ताह में किसी दिन दिल्ली आने का विचार रखता है। उसने बताया है कि वह काउसजी जहांगीर जी की नाटक कम्पनी से काम छोड़ रहा है। वहां काम छोड़ने के लिए एक सप्ताह का नोटिस देने की आवश्यकता है।"

: ३ :

मैंने महाभारत के आगामी वृत्तान्त को पढ़ना आरम्भ कर दिया। मैं दिनेश के विषय में निश्चिन्त हो गया था।

माणिकलाल ने लिखा था—

इस तीर्थाटन काल में मुझको भारत के मुख्य-मुख्य नरेशों और नागरिकों से मिलने का अवसर मिला था। इस काम में मुझको एक बात का पता चला था कि कौरवों के अधर्माचरण की सूचना सबको थी और प्रायः सब ही उनसे घृणा करते थे। इस पर भी कौरवों को कर देना इसलिए बन्द नहीं किया गया था कि उनका चरित्र ठीक नहीं रहा था, अपितु इस कारण कि कौरव अब दुर्बल पड़ गये थे। सभी

नरेशों को विदित था कि दुर्योधन द्रुपद के धनुष का चिल्ला भी नहीं चढ़ा सका था। कर्ण के विषय में उनकी धारणा थी कि वह दुर्योधनादि से किसी प्रकार का प्रेम नहीं करता। उसका प्रेम उनसे इस कारण है कि वे भी उसके द्वेषी हैं, जिससे वह द्वेष करता है।

प्रायः नरेश यह जानते थे कि कौरव युद्ध नहीं कर सकते। इस पर भी यदि उन्होंने सेना भेजने का प्रयत्न किया तो वे कर दे देंगे।

मेरे इस प्रश्न पर कि यदि पांडव चक्रवर्ती राज्य-पद पाने के लिए यत्न करें तो वे क्या करेंगे? वे कह देते कि वे युद्ध से बचने का यत्न करेंगे।

मुझको भारत के नरेशों की यह प्रवृत्ति कुछ ठीक नहीं जँची। मैं समझ रहा था कि इस भूमि पर से वास्तविक क्षात्र-धर्म लोप हो रहा है। क्षत्रिय, जो न्याय और धर्म की रक्षा करने के लिए प्राणों की आहुति देने वाले थे, अब नहीं रहे थे। भारत के सौभाग्य से इस समय काम्ब-भोज, तुखार, अथवा यवन देश में कोई बलशाली राजा नहीं था। अन्यथा वह भारत पर आक्रमण कर देता तो ये सब नरेश विना युद्ध किये ही उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते।

मैं यह विचार कर चुका था कि पांडवों को शीघ्र ही राजसूय-यज्ञ की घोषणा कर देनी चाहिए।

अतः तीर्थाटन के समाप्त करने से पूर्व मैं इन्द्रप्रस्थ जा पहुंचा। वहां पहुंचने पर पता चला कि सुभद्रा के एक लड़का हुआ है। साथ ही कृष्ण अपनी पटरानी रुक्मिणी के साथ वहां आया हुआ है।

मैं वहां पहुंचा तो मुझको राजमहल में ठहरा दिया गया। वहां पर रहते हुए मुझको सेवकों से खांडव वन जला देने का समाचार मिला। यूं तो खांडव वन असुर, दानवों और अन्य भयंकर डाकुओं का आश्रय स्थान था। परन्तु उनको वन से निकालने के स्थान, वन को ही जला देने के समाचार से मुझको विस्मय हुआ था।

देश में गहन वनों की आवश्यकता रहती है। इनसे समय पर वर्षा होने में सहायता मिलती है। अतः इस बन के विनाश से मुझे आश्चर्य हुआ। यह जान कर मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया कि इस वन को जलाने और इसमें के सब प्राणियों को उसके अन्दर ही जला

देने का श्रेय केवल अर्जुन को ही है।

मैं इसी संशय में था कि मेरी इस वन में रहने वाले एक मयासुर से भेंट हो गई। वह इस वन की अग्नि से बच जाने वाले चार-पांच प्राणियों में से था। इन दिनों यह राजभवन में टिका हुआ था।

मेरा उससे परिचय हुआ तो मैंने उससे यही प्रश्न किया, "असुरराज, तुम इस वन में क्या कर रहे थे जो श्रीकृष्ण को पसन्द नहीं आया, जिसके लिए इस वन को जला देना उचित माना गया।"

मय ने मेरे प्रश्न का आशय समझ कहा, "ब्राह्मणवर ! सत्य ही इस वन को जला देने में कारण उत्पन्न हो गया था। यह तो आपको विदित ही है कि उत्तरी भारत में, विशेष रूप में काश्यप देश में, किसी समय नागों का राज्य था। वह राज्य कुछ तो देवताओं ने जीत लिया और उसको देवलोक में मिला लिया था और कुछ कुरुवंशियों ने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। उन नागों के अवशेष खांडव वन में रहते थे। उन नागों के राजा तक्षक एक ओर तो इन्द्र से मैत्री की संधि किए हुए थे और दूसरी ओर महाराज भीष्मजी से मैत्रीपूर्वक रहते चले आ रहे थे।

"जब कौरव और पांडवों में बँटवारा हुआ तो देश के प्रायः नरेशों ने कौरवों को कर देना बन्द कर दिया। यह परिस्थिति देख नागराज तक्षक ने भी समझा कि कुरु-वंश दुर्बल हो गया है। अतः वह पुनः उत्तरी भारत में नागों का राज्य स्थापित करने का यत्न करने लगे।

"तक्षक ने विदेशों से योग्य शिल्पी, शस्त्रास्त्र-निर्माता तथा योद्धा बुला-बुलाकर इस वन में एकत्रित करने आरम्भ कर दिए थे। उन शिल्पियों में से मैं भी एक था। मैं यवन देश से यहां लाया गया था। यह योजना थी कि सब युद्ध सामग्री एकत्रित कर, छापा डालकर एक रात पांडवों को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार इन्द्रप्रस्थ का राज्य अपने अधीन कर लिया जाये। तक्षक को विश्वास था कि दुर्योधन इसको पसन्द करेगा और उससे सन्धि कर यहां का राजा उसको मान लेगा।

तक्षक को विश्वास था कि उसके बाद शक्ति-संचय कर कौरवों को तो खुले युद्ध में भी परास्त किया जा सकता है। कठिनाई पांडवों

की थी। इनकी सैनिक तैयारी देख इनसे खुले में युद्ध करने का साहस नहीं होता था। अतः छापा डाल कर पहले पांडवों को समाप्त करने का विचार किया गया।

"इन्द्र से मैत्री होने के कारण देवताओं के विषय में वह निश्चिन्त था। उसने पचास सहस्र सेना वन में एकत्रित कर ली थी। मैंने अनेकों प्रकार के अस्त्र-अस्त्र निर्माण कर उनको दिये थे।

"इस समय एक घटना घट गई। सब तैयारी चोरी-चोरी हो रही थी। एक दिन एक ब्राह्मण जिसका नाम हव्यवाहन था, किसी निमित्त वन में तपस्या करने आ पहुंचा। वहां सहस्रों सैनिकों को एकत्रित हुए देख वह समझ गया। उसने जाकर अर्जुन को बताया।

"कारणवश यहां श्रीकृष्ण जी भी आये हुए थे। सूचना पाते ही कृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र से तथा अर्जुन ने अपने आग्नेय बाण से पूर्ण वन को फूंक डाला। जब वन को आग लगी तो नाग, गंधर्व, दानव, राक्षस सबके सब उस दावानल से बचने के लिए भागे। परन्तु इन दोनों वीरों ने यहां एकत्रित षड्यन्त्रकारियों में से एक को भी बचने नहीं दिया। वे वन के चारों ओर ऐसे घूम रहे थे कि जैसे सूर्य भगवान् घूमते हैं और जो भी यहां से कहीं भागने का यत्न करते थे, वे मार कर अग्नि में ही फेंक दिये जाते थे।

"मैं जब इस वन में आया था तो आग के सामने इसकी दुर्बल स्थिति समझ गया था। मैंने नागराज तक्षक को यह बात बताई थी। उसका कहना था, 'हम सब काम चोरी-चोरी सम्पन्न करना चाहते हैं। यदि हमने वन को अग्नि देवता से सुरक्षित करने का प्रबन्ध किया तो हमारा रहस्य खुल जायेगा। तब ये पचास सहस्र योद्धा आग्नेय अस्त्र के एक ही वार से भस्म हो जायेंगे। अतः हमारी सफलता की एकमात्र आशा, कार्य को चोरी-चोरी सम्पन्न करने में ही है।

"मुझको तक्षक की योजना में यह त्रुटि खटकती थी। अतः इस अवस्था में मैं भी अपनी रक्षा के विषय में सोचने लगा। मैंने भूमि के नीचे एक सुरंग निर्माण कर कठिनाई के समय उसके द्वारा भाग निकलने का विचार कर लिया।

"तक्षक इन्द्रप्रस्थ पर छापा मारने की योजना को चलाने के लिए

कृष्ण के यहां से चले जाने की प्रतीक्षा करने लगा। इस प्रतीक्षा-काल में तक्षक कुछ दिनों के लिए कुरुक्षेत्र में गया हुआ था। उसकी अनुपस्थिति में ही यहां का रहस्य अर्जुन को मिल गया। कृष्ण और अर्जुन ने वही कुछ किया जो हम करना चाहते थे। एक रात जब हम सबके सब निश्चिन्त हो सो रहे थे, कृष्ण और अर्जुन ने वन को आग लगा दी। मैं आग लगती देख अपने प्राण बचाने के लिए सुरंग में चला गया।

"ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी सुरंग के बाहर वाले द्वार का उनको ज्ञान हो गया था। उन्होंने उस द्वार को मिट्टी से बन्द कर दिया। मैंने जब द्वार बन्द देखा तो पुनः द्वार बनाने लगा। मेरे पास सब यन्त्र तो थे ही। मुझको इसमें कठिनाई नहीं हुई। हां, समय अवश्य लग गया। इस पर भी जब सुरंग का नया द्वार बनाकर मैं बाहर निकला तो जीवित ही पकड़ लिया गया। मुझे भी षड्यन्त्रकारी जान अर्जुन आग में फेंक देना चाहता था, परन्तु जब मैंने विनती की तो उसने मुझको जीवन-दान दे दिया। इस समय तक वन लगभग जल चुका था। उसमें के सहस्रों प्राणी जल कर भस्म हो चुके थे। परन्तु नागराज तक्षक वन से बाहर होने के कारण बच गया।"

मैं यह कथा सुन अवाक् रह गया। एक महान् षड्यन्त्र का विध्वंस किया गया था। इससे देवताओं की पूर्ण योजना विफल होती-होती बची थी।

इन्द्र अपने मित्र तक्षक की सहायता करना चाहता था, परन्तु उस वन में असुरों, दानवों और राक्षसों के षड्यन्त्र का समाचार पा चुप रहा। मन-ही-मन वह अर्जुन की चतुराई पर बहुत प्रसन्न था। इस प्रसन्नता में उसने अर्जुन को अनेकों दिव्य अस्त्र देने का वचन दिया।

मैं आया था महाराज युधिष्ठिर को शीघ्रातिशीघ्र राजसूय-यज्ञ करने की प्रेरणा देने के लिए। यहां इस खांडव वन के भस्म किए जाने के समाचार से मेरा विचार और भी दृढ़ हो गया।

एक दिन जब पांडव और श्रीकृष्ण बैठे थे, तो मैंने बात चला दी। मैंने कहा, "महाराज! मैं सात वर्ष भारत में भ्रमण के पश्चात् यह अनुभव प्राप्त करके आया हूं कि भारत में चक्रवर्ती राज्य का स्थान रिक्त पड़ा है। मैं श्रीमान् से निवेदन करना चाहता हूं कि वे यह पद

पाने योग्य हैं।"

इस पर सब गम्भीर हो गए। उत्तर कृष्ण ने दिया। उसने कहा, "जब तक जरासंध और शिशुपाल जीवित हैं, यह राजसूय-यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता। दोनों इतने बलशाली हैं कि इनको परास्त करने के लिए युक्ति से काम लेना होगा। राजसूय-यज्ञ के समय तो छल-कपट चल नहीं सकेगा। इस कारण इनका विध्वंस पहले ही कर देना होगा।"

"संजयजी!" कृष्ण ने आगे कहा, "यह कार्य इतना महान् है कि इसके लिए समय चाहिए। पृथ्वी को विजय करने के लिए बीस अक्षौहिणी सेना चाहिए। उसके भोजन, वस्त्र और शस्त्रास्त्र के लिए धन चाहिये। उसके लिए देश में शान्ति चाहिये। साथ ही देश में सम्पन्नता चाहिये। इस कारण मेरी यही सम्मति है कि पहले हमें साधन जुटाने चाहिएं।"

कृष्ण को इन्द्रप्रस्थ में आए छः मास हो चुके थे। इस कारण उसने कहा, "भैया! साधन जुटाओ और मुझको बुला लेना। मेरा पूर्ण सहयोग तुमको प्राप्त होगा।"

इस समय मयासुर युधिष्ठिर के लिए एक अति विशाल, अति सुन्दर और अनुपम तथा सब प्रकार के साधनों से युक्त सभा-भवन बना रहा था। यह भवन मयासुर अपने जीवन-दान के उपलक्ष्य में बनाना चाहता था।

मैंने इन्द्रप्रस्थ से ही इन्द्र को अपने भ्रमण के परिणामों को लिख कर भेज दिया और उनका उत्तर प्राप्त हुआ—"नारदजी आ रहे हैं।"

और नारद जी आ गये।

: ४ :

यह सर्वविदित था कि नारदजी वेद-वेदांग तथा उपनिषदों के ज्ञाता, ऋषि, देवताओं द्वारा पूज्य, इतिहास तथा पुराणों के मर्मज्ञ, पूर्व काल की बातों के विशेषज्ञ, धर्म के तत्त्व को जानने वाले, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष के पण्डित शिरोमणि, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले वेद-वचनों में ऐक्य को समझाने वाले, प्रगल्भ वक्ता, त्रिकालदर्शी और एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुंचे हुए गूढ़ ज्ञानी हैं।

नारदजी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ के संबंध को समझने वाले थे। वे संगीताचार्य और सब कलाओं के ज्ञाता थे। ऐसे विद्वान् और सिद्धि प्राप्त व्यक्ति के आगमन पर युधिष्ठिर ने नंगे पांव सभा के द्वार तक जाकर उनका स्वागत किया और आदर-सहित भवन के मुख्य आगार में उच्च आसन पर बैठाकर फल-पुष्प से पूजा की।

नारद ने उस भरी सभा में युधिष्ठिर को उपदेश दिया। मैं उस सभा में उपस्थित था और नारदजी के उपदेश से मेरे भी अन्तर्चक्षु खुल गये।

नारदजी ने बताया, "राजन्! भगवान् ने तुमको यह पदवी प्रदान की है। अतः इस पदवी के उपयुक्त तुमको अपना आचरण रखना चाहिए।

हे नरेश—

दिन का प्रथम प्रहर धर्म-कर्म की प्राप्ति में व्यय करना चाहिये, मध्याह्न अर्थ-उपार्जन में और रात्रि का समय काम की प्राप्ति में व्यय करना चाहिए।[1]

जितना उत्पन्न करो उसके चौथाई पर, न हो सके तो आधे पर, अथवा विशेष अवस्थाओं पर पौन पर निर्वाह करो। शेष बचे हुए से सर्वप्रथम—

देश की रक्षा के लिए दुर्ग बनाओ; रथ, हाथी, शूर सैनिक और अधिकारी पुरुषों को एकत्रित करने में व्यय करो।[2]

हे राजन्! तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के साथ धर्मयुक्त उत्तम एवं उदारता से व्यवहार करो।

हे धर्ममूर्ति! तुमको जानना चाहिए कि उत्तम कुल में उत्पन्न अपने प्रति अनुराग करने वालों को ही मंत्री बनाना उचित होता है। राजा की विजय-प्राप्ति का मूल कारण अच्छी मंत्रणा और राज्य की सुरक्षा ही है।

---

१. पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत्।
सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः॥
महा० सभा०—५

२. देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः।

"हे राजन्! विनयशील, कुलीन, बहुश्रुत विद्वान्, दोष-दृष्टि से रहित तथा शास्त्र-चर्चा में कुशल को ही पुरोहित बनाओ।

"राज्य के किसान, मजदूर, श्रमजीवी मनुष्यों का ध्यान रखो। वे सब तुम्हारे विश्वास के पात्र हों। उनके सहयोग से ही तुम्हारा महान् अभ्युदय होने वाला है।"

इस प्रकार नारदजी ने बहुत स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर को राज-धर्म की शिक्षा दी। तत्पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर के सभा-भवन का निरीक्षण किया और कहा, "कुन्तीनन्दन! मानव जगत् में इससे श्रेष्ठ भवन अन्य कोई नहीं है। इस पर भी और अधिक उन्नति और इससे भी श्रेष्ठ भवन निर्माण करने के लिए तुमको राजसूय-यज्ञ करना चाहिए। तब तुमको इन्द्र के समान सम्मान मिलेगा।"

नारद ने यह मेरे मन की बात कही। परन्तु युधिष्ठिर इस यज्ञ की कठिनाई समझता था।

पूर्ण पृथ्वी के राज्य जब तक अनुकूल नहीं हो जाते तब तक राजसूय-यज्ञ नहीं हो सकता था।

इस अनुकूलता के विषय में विचार-विनिमय के लिए, एक ओर तो महर्षिगण, कृष्ण द्वैपायन-व्यासजी, वसिष्ठ जी, तथा अन्य ऋषियों आदि से सम्मति होने लगी और दूसरी ओर युधिष्ठिर अपने मन्त्री-गणों से इस यज्ञ के विषय में सम्मति लेने लगे।

महर्षि तथा ऋषियों का कहना था, "भारत! तुम्हारे भाई, तुम्हारी आज्ञा के अधीन हैं। अतः तुम पूर्ण पृथ्वी को जीत सकते हो और इस यज्ञ को करने के योग्य भी हो।"

महाराज युधिष्ठिर के मन्त्रियों ने भी महर्षियों और ऋषियों की बात का समर्थन कर दिया।

सब यह कहते थे, जहां तक धर्म-परायणता, न्यायप्रियता तथा जगत्-कल्याण का सम्बन्ध है, महाराज युधिष्ठिर राजसूय-यज्ञ करने के योग्य हैं, परन्तु यह यज्ञ सफल तब ही होगा, जब संसार में पूर्ण शान्ति हो। उनका यह भी कहना था—

संसार में साधु और दुष्ट दोनों प्रकार के लोग बसते हैं। दुष्टों का तो स्वभाव है कि वे केवल ईर्ष्या-मात्र से दूसरों का अनिष्ट करने

में लीन हो जाते हैं। अतः हे महाराज! यदि राजसूय-यज्ञ करना है तो संसार-भर के साधुओं के साथ मैत्री और दुष्ट शक्तियों का दमन करना अनिवार्य है।

"राजन्! जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनों को देखकर तथा देव बल, आय-व्यय को बुद्धि द्वारा भली-भांति समझकर कार्य करता है, वह सफल होता है। वह सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं में कष्ट नहीं पाता।"

युधिष्ठिर इस मंत्रणा को सुन गंभीर विचार में मग्न हो गया। वह राजसूय-यज्ञ जैसे महान् कार्य को करने की लालसा रखते हुए भी बिना किसी कुशल मंत्रणा के कार्यारम्भ करना नहीं चाहता था। बहुत कुछ विचार करने के पश्चात् युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की सम्मति लेने का निश्चय किया। युधिष्ठिर को यह विदित था कि इस समय देश-विदेश का जितना परिचय श्रीकृष्ण को है, उतना किसी अन्य को नहीं। अतः इस कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने अपने एक कुशल दूत को द्वारिका, श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए भेज दिया।

इस सब समय मैं इन्द्रप्रस्थ में रहा। वहां पर घटनाओं की गति-विधि को मैं देख रहा था कि राजसूय-यज्ञ होकर ही रहेगा। मैं वहाँ पर भी अपने कथा-कीर्तन के कार्य में लगा रहता था।

श्रीकृष्ण जी आये और युधिष्ठिर की अभिलाषा जान कर कहने लगे, "भैया! यह कार्य तो अति शुभ है। साथ ही कठिन भी है।

"राजसूय-यज्ञ का अर्थ केवल यह है कि एक लम्बे काल के लिए संसार में शान्ति स्थापित की जा सके, जिससे इस पृथ्वी पर बसे हुए कोटि-कोटि मनुष्य सुख-शान्ति से पेट भरते हुए धर्म-कर्म में समय लगा सकें।

"मैंने तुम्हारे राज्य में प्रजा को सब प्रकार से प्रसन्न, संतुष्ट और धर्म-कर्म में लीन देखा है। इस कारण तुमको ऐसा यज्ञ करने के योग्य मानता हूं। परन्तु परन्तप! यह पृथ्वी तुम्हारे राज्य से बहुत लम्बी-चौड़ी है। इस पृथ्वी में सब प्रकार के और भिन्न-भिन्न विचारों के लोग रहते हैं। वे राजसी, सात्त्विक और तामसी प्रवृत्तियों के हैं। इन सब प्रकार के लोगों को एक सूत्र में बांधने के लिए विपुल प्रयत्न करने

की आवश्यकता है।

"अतएव यदि तुम, तुम्हारे भाई, सम्बन्धी तथा मित्र तुम्हारे इस कार्य में सहयोग देने को तैयार हों तो निःसंदेह, यह कार्य करने योग्य है।"

"कृष्ण भैया ! यही जानने के लिए तो तुमको बुलाया है। मेरी जानकारी में तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं, जो उचित सम्मति दे सके।"

"तो सुनो !" कृष्ण ने सतर्क हो देश-विदेश की परिस्थिति का वर्णन कर दिया।

"महाराज द्रुपद, राजकुमार धृष्टद्युम्न, मैं, बलराम तथा भोज-वंशीय राजा, मन से तुम्हारे सहायक हैं। परन्तु इसके विपरीत बहुत से तो तुम्हारे विरोधी भी हैं।

"कौरव तुम्हारे इस यज्ञ-कार्य को पसन्द नहीं करेंगे। परन्तु तुम्हारे खांडव वन को भस्म करने से तुम्हारी शक्ति का अनुमान लगा, वे तुम्हारा विरोध भी नहीं करेंगे।

"कौरवों को अपने अनुकूल, कम से कम शांत रखने के लिए तुमको उनसे मेल-जोल उत्पन्न करना ही होगा। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि से मिलकर उनको यह बताना होगा कि इस राजसूय-यज्ञ से उनको भी लाभ पहुंचेगा। उनकी भी महिमा बढ़ेगी।

"भारत के अन्य नरेशों में से कुन्तीभोज तुमसे स्नेह रखते हैं, वह भी तुम्हारे सहायक होंगे। परन्तु वेग, पुण्ड्र तथा किरात देश का राजा तुम्हारा शत्रु है। वह हमारे शंख-चक्रादि चिह्नों को धारण नहीं करता। वह जरासंध का मित्र है। इसके अतिरिक्त महाराजा भीष्मक, रुक्मिणी के पिता, जो पांड्य, कथ और कौशिक देशों पर अपने बल से विजय पा चुके हैं और शौर्य-संम्पन्न जमदग्नि-नन्दन परशुराम भी मगधराज जरासंध, के मित्र हैं।

"भीष्मक जरासंध की रुचि के बिना एक पग भी नहीं चल सकता। वे रुक्मिणीदेवी के पिता होते हुए भी अपनी पुत्री और उसके पति का हित-चिन्तन नहीं करते। वे हमारे शत्रुओं से मिल कर सदा हमारा विनाश करने में लीन रहते हैं।

"उत्तर दिशा में भोजवंशियों के अठारह कुल हैं। वे भले लोग हैं, परन्तु जरासंध के भय से भयभीत हैं। उनमें से कई तो अपना देश छोड़ पश्चिम को भाग गये हैं।

"हमारी भी बात सुन लो। जब कंस को पराजित कर मैंने मथुरा का राज्य अपने अधीन किया तो जरासंध की कुदृष्टि हम पर भी पड़ी। सोलह बार मुझको उससे युद्ध करना पड़ा। अन्त में मेरे लोगों ने युद्ध से थककर मथुरा छोड़ कुशस्थली तथा रैवतक पर्वत पर आश्रय लिया। वहां पर कुशस्थली दुर्ग की मुरम्मत कर हम अपने सुदर्शन चक्र के आश्रय रहते हैं। एक तो वह लम्बी-चौड़ी मरुभूमि है और दूसरे कुशस्थली दुर्ग अजेय है। तीसरा, हम तीन वंशों क लोग मिलकर परिश्रम से उसकी रक्षा करते हैं। इस कारण हम बचे हुए हैं।

"कंस जरासंध का दामाद था। जरासंध की दो लड़किया अस्ति और प्राप्ति का उससे विवाह हुआ था। जब हमने कंस और सुनामा को मार डाला तो जरासंध हमसे कुपित हो गया।

"जरासंध की पुत्रियां विधवा हो, अपने पिता के पास रहती हैं। वे दोनों पिता को उत्तेजित करती रहती हैं, परन्तु कुशस्थली दुर्ग के कारण वह हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सका। हम द्वारिका में निर्भय रहते हैं।

"मध्य भारत, उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत के समस्त राजा, जरासंध से भयभीत या तो उसके मित्र बने हुए हैं, अथवा अपना देश छोड़ भाग गए हैं।

"विदेश में यवनाधिपति भगदत्त भी जरासंध के सामने, कम से कम वाणी और आचरण से, नतमस्तक रहता है।

"शिशुपाल तो जरासंध का मद्य पीने में साथी है। वह तुम्हारा कभी भी हितेच्छु नहीं हो सकता।

"अतः धर्ममूर्ति! भारत तथा विदेश की राजनीति का मेरा सारांश यह है कि जब तक जरासंध जीवित है तब तक ये सब नरेश भी तुम्हारा विरोध करेंगे और इस यज्ञ को सफल नहीं होने देंगे।

"मेरी सम्मति यह है कि पहले जरासंध को परास्त कर सको तो फिर यज्ञ करने का बीड़ा उठाओ।

"यह नहीं कि जरासंध के छिद्र नहीं हैं। उसने अपने राज्य में अपने द्वारा पराजित राज्यों में, वे अत्याचार किये हैं कि यदि एक बार संसार को पता चल जाए कि जरासंध को चनौती देने वाला संसार में उत्पन्न हो गया है तो वे सबके सब उस चुनौती देने वाले के लिए परमात्मा से प्रार्थना करेंगे। साथ ही उसके परास्त होते ही, वे सब विजयी की अधीनता स्वीकार कर लेंगे।

"इस समय जरासंध ने भारत तथा विदेशों से सैकड़ों नरेशों को पकड़कर वलपूर्वक अपनी राजधानी में बंदी बना रखा है। यदि तुम जरासंध को मारकर उन नरेशों को मुक्त कर सको तो संसार-भर में तुम्हारी कीर्ति फैल जायेगी। साथ ही वे सभी नरेश तुम्हारे भक्त हो जायेंगे। उन सैकड़ों राजाओं के सम्बन्धी, मित्र पूर्ण पृथ्वी भर में फैले हुए हैं, अतः तुम्हारा यश भू-मण्डल में फैलेगा और तुम्हारा यज्ञ सफल होगा।

"नरेश! यह केवल यश की ही बात नहीं, प्रत्युत इससे संसार का कल्याण भी होगा।"

कृष्ण के इस प्रकार परिस्थिति के विश्लेषण से युधिष्ठिर और उसके भाइयों को कार्य की कठिनाई का ज्ञान तो हुआ ही, साथ ही उसको करने का मार्ग भी उन्हें दिखाई देने लगा।

: ५ :

युधिष्ठिर ने अपने भाइयों, श्रीकृष्ण और मन्त्रियों में वैठकर आगे के कार्यक्रम पर विचार किया। श्रीकृष्ण ने विचार-विनिमय से पूर्व जरासंध का इतिहास बता दिया। श्रीकृष्ण ने बताया, "राजन्! मैंने बताया है कि जरासंध अति क्रूर और स्वार्थी नरेश है। परन्तु वह आरम्भ में ऐसा नहीं था।

"मगध देश के एक अति धर्मात्मा राजा बृहद्रथ थे। उन्होंने काशि-राज की दो जुड़वां कन्याओं के साथ एक साथ विवाह किया और दोनों को अति रूपवान, सद्‌गुण तथा यौवन-सम्पन्न देख वचन दिया कि वे अपनी दोनों पत्नियों के साथ विषम-व्यवहार नहीं करेंगे। अतः वह दोनों में ऐसे रहने लगे, जैसे जमुना-गंगा में मूर्तिमान समुद्र सुशोभित होता है।

"इसका परिणाम यह हुआ कि अति विषयासक्त होने के कारण उनके वृद्ध होने तक कोई सन्तान नहीं हुई।

"संयोगवश वृद्धावस्था में महात्मा काशिवान उनके राज्य में आ गये। उनके आगमन का समाचार पाकर राजा वृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों सहित उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। मुनि प्रसन्न होकर वर में उनको पुत्र दे बैठे।

"मुनि ने एक आम का फल दिया और कहा इसके खाने से पुत्र की प्राप्ति होगी। राजा दोनों पत्नियों में पहले की भांति ही आसक्त थे। अतः निर्णय नहीं कर सके कि किस रानी को फल खिलायें। बहुत विचार के पश्चात् उन्होंने फल के दो टुकड़े कर दिये और आधा-आधा दोनों रानियों को खिला दिया।

"परिणाम यह हुआ कि दोनों के गर्भ ठहर गया। दोनों के आधे-आधे शरीर वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे रानियां अति भयभीत हुईं। घटनावश वहां जरा नाम की एक राक्षस स्त्री आ गई और उसने बालक के दोनों भागों को जोड़ दिया। राक्षसी के कौशल से प्रसन्न हो राजा ने बच्चे का नाम जरासंध रख दिया।

"जरासंध अभी बालक ही था कि बृहद्रथ वानप्रस्थ ले अपनी रानियों के संग वन को चला गया। पीछे जरासंध अति-बलशाली, सुन्दर और बुद्धिमान बन, बड़ा हुआ।

"उसने तीन अक्षौहिणी सेना एकत्रित कर भू-मण्डल को विजय करने का प्रण किया। आर्यावर्त तथा पांचाल नरेशों की ओर तो वह कुछ बढ़ नहीं सका; हां, दक्षिण-पश्चिम और पूर्व के नरेशों को उसने अपने सैन्य-बल से परास्त कर लिया।

"अभी तक तो वह धर्म-कर्म में लीन था, परन्तु विजय के मद में तथा अन्य नरेशों के निरन्तर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयास से; वह दिन-प्रतिदिन क्रूर होता गया।

"अब स्थिति यह है कि न केवल उसकी अपनी प्रजा प्रत्युत पृथ्वी भर के लोग, जहां-जहां उसका हाथ पहुंचता है, उसकी क्रूरता, निर्दयता तथा अधर्माचरण से त्राहि-त्राहि कर रहे हैं।

"वह न केवल स्वयं बलशाली है, साथ ही वह एक अति सुदृढ़ सेना

का स्वामी भी है। उसकी सेना के पास अति उत्तम और प्रभावशाली शस्त्रास्त्र भी बहुत हैं।

"परन्तु परंतप ! इस सबके होने पर भी उसके सहायकों में एक वस्तु की कमी है। उनमें शील, सन्तोष और बुद्धि अति न्यून मात्रा में है।

"उसके दो अति बलशाली और शौर्यवान सेनापतियों की कथा सुनाता हूं। इससे आपको पता चल जायेगा कि इस अजेय दुर्ग में छिद्र कहां हैं।

"इन सेनापतियों का नाम डिम्भर और हंस था। दोनों भाई थे और इकट्ठे रहकर ही युद्ध करते थे। वे अजेय माने जाते थे और जरासंध को इनका भारी भरोसा था।

"जब ये योद्धा हमसे मथुरा छीनने के लिए सत्रहवीं बार आये और हम इनसे युद्ध कर रहे थे तो इनके साथ एक हंस नाम का अन्य राजा भी था। हमने हंस को मार डाला तो सेना ने जयघोष कर दिया। सत्र ओर से ध्वनि उठने लगी कि हंस मारा गया ! हंस मारा गया ! !"

"डिम्भर दूर एक स्थान पर युद्ध कर रहा था। जब उसने सुना कि उसका भाई मारा गया है तो शोक तथा निराशा में ग्रसित वह यमुना में कूद पड़ा और डूब मरा। वास्तव में हंस जीवित था। जब उसको पता चला कि उसका भाई डिम्भर यमुना में डूब मरा है तो वह भी भाई के प्रेमवश यमुना में कूदकर मर गया। इस प्रकार हमारी विजय हो गई।

"इस पर भी कंस की पत्नी प्रियलोचना जरासंध को हमारे विनाश के लिए उकसाती रही। जब अठारहवीं बार जरासंध ने आक्रमण करने का विचार किया तो वृष्णिवंशीय निरन्तर युद्ध करते-करते थक गये थे। हमने व्यर्थ में नर-हत्या करनी बुरी समझी। अतः मथुरा को ही छोड़ दिया और द्वारिका में जाकर रहने लगे।

"राजन् ! मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि वह शूरवीर, बलशाली तथा विशाल सेना का स्वामी है। इस पर भी वह बुद्धि से दुर्बल है। उसके सैनिक भी इसमें न्यूनता रखते हैं। अतः हमको इस छिद्र से जाकर ही उसका नाश करना चाहिए।

"मैं भीम और अर्जुन को लेकर उसको मल्ल-युद्ध की चुनौती देता

हूं। वह अवश्य ही हममें से किसी एक के साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो जायेगा। यदि ऐसा हुआ तो उसका सर्वनाश समझो।"

इस योजना को सुन युधिष्ठिर भय से कांप उठा। उसको यह योजना त्रुटिपूर्ण प्रतीत हुई। उसने कह दिया, "कृष्ण! यह पृथ्वी बहुत विशाल है। यह अनेक प्रकार के रत्नों से भरी हुई है। अतः इसका लोभ तो न कभी पूर्ण होने वाली बात है।

"श्रीकृष्ण! भीम और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दन! आपको मैं अपना मन समझता हूं। यदि इन तीनों में से किसी का भी कुछ अनिष्ट हुआ तो मैं विना मृत्यु के मारा जाऊंगा। इसलिए मैं इस योजना को स्वीकार नहीं कर सकता। मैं अपना परलोक सुधारने का विचार छोड़ता हूं परन्तु आपको इस भय में नहीं डाल सकता।

"मैं यह समझा हूं कि जरासंध की सेना को मार पाना कठिन है। उसका आक्रमण भयानक है। अतः युद्ध में उसकी सेना को पराजित करना कदाचित् यमराज के लिए भी सम्भव नहीं। इस कारण मैं अपनी कामना को ही छोड़ता हूं।"

युधिष्ठिर की उत्साहहीन बातों को सुन भीम का मुख क्रोध से लाल हो गया। उसने खड़े होकर कहा, "भैया! मुझे यह ज्ञात नहीं था कि आप इतने जल्दी अपने विचारों को बदल सकते हैं। आप हमसे मोह कर अपने महात्मापन से पतित होते जाते हैं।

"भैया, क्षमा करना। यह भीरुतापूर्ण वाक्य आपके मुख से शोभा नहीं देते। जहां आप जैसे धर्मात्मा हमारे छत्र हैं, जहां श्रीकृष्ण जैसे नीति-कुशल हमको मंत्रणा देने वाले हैं, वहां हम पांडवों में से किसी को भी कौन जीत सकता है? महाराज! हमारी विजय निश्चित है।"

अर्जुन ने भी कह दिया, "भैया! यह मृत्यु की बात कैसे मन में आ गयी है?

"कोई नहीं जानता कि मृत्यु कब आने वाली है। वह रात को आयेगी अथवा दिन के समय। भैया! मैंने यह भी नहीं सुना कि युद्ध न करने से कोई अमर हो गया है।"[१]

---

१. न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानु शुश्रु ॥—महा० सभा ०१७

अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा—

"यदि मुझ में नीति है, भीम में बल है और अर्जुन हम दोनों की रक्षा करने वाले हैं तो, तीन अग्नियों से रक्षित यज्ञ जैसे सिद्ध होता है, उसी प्रकार हम अपना कार्य सिद्ध कर लेंगे।"[1]

युधिष्ठिर ने इस प्रकार के वचन सुन उनको अनुमति दे दी कि वे जरासंध को मारकर लोक-कल्याण करें।

इस प्रकार वे तीनों वीर मगध राज्य को चल पड़े। वे ब्राह्मण के वेश में गये। मगध राज्य की राजधानी गिरिव्रज के बाहर पहुंच विचार करने लगे कि क्या करें।

गिरिव्रज एक पर्वत के शिखर पर बनी नगरी थी। नगरी के चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर बनी थी। प्राचीर में पांच द्वार थे और पांचों के पाँचों सैनिकों द्वारा भली-भांति सुरक्षित थे। नगर में कोई भी बाहरी व्यक्ति बिना जरासंध की अनुमति के, जा नहीं सकता था।

श्रीकृष्ण ने यह विचार किया कि नगर में जाने पर तो नाम-धाम बताना पड़ेगा और असत्य नाम आदि बताना उचित नहीं होगा। अतः उन्होंने नगर-प्राचीर के एक पुराने परकोटे को फोड़कर भीतर जाने का विचार बनाया। यहां प्रहरी न थे और एक सुदृढ़ दीवार बनी हुई थी। इस परकोटे की छत पर तीन नगाड़े रखे हुए थे, जो जब बजाये जाते थे तो पुष्प-वर्षा होने लगती थी।

श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन इस परकोटे की छत पर चढ़ गये। उन नगारों को जाते ही फोड़ डाला और परकोटे की दीवार को धक्के मार-मारकर तोड़ डाला। इस प्रकार नगर में जाने का मार्ग बना वे अन्दर चले गये।

नगर मार्ग पर स्नातक व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मणों के भेष में और अस्त्र-शस्त्र से रहित चलते हुए वे राज-प्रासाद के द्वार पर जा पहुंचे।

वहां द्वारपाल के द्वारा जरासंध को यह सूचना भेजी कि तीन

---

[1] मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जुनः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥

महा० सभा० २०

ब्राह्मण, महाराज से विशेष भिक्षा पाने की आशा से आये हैं।

तीनों को कोट के भीतर ले जाकर महाराज जरासंध के सम्मुख खड़ा कर दिया गया। जरासंध ने इन ओजस्वी ब्राह्मणों को देख आसन से उठकर इनका स्वागत किया। जरासंध ने पूछ लिया, "महाराज! आप कहां से पधारे हैं और क्या चाहते हैं?"

उत्तर कृष्ण ने दिया। उसने कहा, "ये दोनों तपस्वी स्नातक आप से एक याचना करने के लिए आये हैं। परन्तु मध्यरात्रि से पूर्व ये कुछ न बोलने का व्रत लिए हुए हैं। अतः हमें यहां ठहरने को स्थान दीजिये और मध्य रात्रि के समय दर्शन देकर हमें कृतार्थ करिये।"

ऐसा ही किया गया। मध्य रात्रि के समय जरासंध आया और उसने कहा, "हे छद्मवेशी ब्राह्मणो! अपना पूर्ण परिचय दो और अपने आने का कारण बताओ?

"यह मैं जान चुका हूं कि तुम तीनों अकेले शस्त्रास्त्र के बिना यहां आये हो। इस कारण चिन्ता न करते हुए मैं तुम्हारा नाम, धाम और काम जानना चाहता हूं।"

श्रीकृष्ण ने अब अपने को छिपाकर रखना व्यर्थ समझ कहा, "हम इस देश में तो स्नातक ही हैं, वैसे हमारा क्षत्रिय होना स्नातक होने का विरोध नहीं करता। हम बलशाली भी हैं। यह बात तुमको परकोटे की दीवार टूट जाने से विदित हो चुकी होगी।

"हम द्वार से नहीं आये। इसमें कारण है कि मित्र के घर तो द्वार से जाया जाता है। हम आपके मित्र नहीं हैं। हमने तुम्हारी पूजा भी ग्रहण नहीं की। यह भी शत्रु के घर से ग्रहण नहीं की जाती।"

"परन्तु तुम हो कौन? मैंने तुम्हारे साथ कौन सी शत्रुता की है?"

"मैं द्वारिकाधीश वसुदेव का पुत्र कृष्ण हूं। ये दोनों पांडुपुत्र भीम और अर्जुन हैं।

"तुमने देश-भर के क्षत्रियों के साथ अत्याचार किया है। दुष्ट कंस से, जिसने अपनी बहन और बहनोई को बन्दी बना रखा था, न केवल अपनी लड़कियां विवाहीं, अपितु समय-समय पर उसकी सहायता भी की है। कंस को उसकी दुष्टता का फल मिलने के पश्चात् तुमने मथुरा

पर सत्रह बार आक्रमण किये। तुमने अपने सैन्यबल से भारत के अनेक राजाओं को बन्दी बना रखा है। सुना जाता है कि तुम उन सबको भगवान त्र्यम्बक के समक्ष बलि चढ़ाने का विचार रखते हो।

"साधु लोग तुम्हारे अत्याचार से हा-हाकार कर रहे हैं। दुष्ट तुम्हारे संरक्षण में फल-फूल रहे हैं। ऐसा तुम्हारा अधर्माचरण देख महाराज युधिष्ठिर ने हमें तुमसे युद्ध करने के लिए भेजा है। अतः बताओ, हममें से किसके साथ युद्ध करोगे ?"

"तो यह युद्ध टल नहीं सकता ?" जरासंध ने मुस्कराते हुए पूछा।

"टल सकता है।" श्रीकृष्ण का सतर्क उत्तर था, "यदि तुम उन नरेशों को, जिनको तुमने नर-बलि के लिए बंदी बना रखा है, छोड़ दो। उन सब अधर्माचरण करने वालों से, जो प्रजा पर अत्याचार करते हैं, सम्बन्ध विच्छेद कर लो और धर्मानुयायियों के साथ सम्बन्ध बना लो।"

"देखो कृष्ण!" जरासंध ने कुछ अकड़कर कहा, "मैंने जो कुछ किया है, धर्मानुकूल किया है। यह क्षत्रिय महाराजाओं का धर्म है कि बल से हीन दुर्बलों पर अपना राज्य स्थापित करें। जो अधीन होना स्वीकार न करें, उनको मौत के घाट उतार दें। अधीन प्रजा से कर प्राप्त करें। यदि प्रजागण कर न दे सके तो उसकी सम्पत्ति आदि को छीन लें। मैंने भी यही कुछ किया है।

"मैंने कोई अधर्माचरण नहीं किया। अतः तुम्हारा मुझसे, जो क्षत्रिय-धर्म का पालन कर रहा हूं, शत्रुता करने आना अधर्माचरण है।"

"ऐसा नहीं जरासंध! क्षत्रियों का बल अकारण विजय करने के लिए नहीं है। जो अधर्मी है, जो न्याय और परोपकार का जीवन व्यतीत नहीं करते, उनको ही परास्त कर अपने अधीन करना राजा का कर्तव्य है। प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है, न कि उसकी धन-सम्पत्ति छीन लेना।

"तुम तो कंस-जैसे अन्यायी और अपनी बहिन के नवजात शिशुओं की हत्या कर देने वाले आततायी के सहयोगी और सहायक बने थे। तुम अधर्मी हो। अतः हम तुमसे युद्ध करने के लिए आये हैं।"

"तो बताओ तुम किस प्रकार युद्ध करोगे। तुम्हारे पास अस्त्र-शस्त्र तो हैं नहीं।"

"हम तुमसे मल्ल-युद्ध करेंगे। एक का एक से ही युद्ध होगा। तुम बताओ, हम तीनों में से किसके साथ युद्ध करना चाहते हो?"

जरासंध ने तीनों को देखा और कहा, "मैं भीम से लड़ूंगा। यह तुम में से बलवान लगता है। मैंने महाराज द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में इसके कार्य को सुना है। अतः मैं इससे मल्ल-युद्ध करूंगा। क्योंकि किसी ख्याति-प्राप्त योद्धा से युद्ध करने पर विजयी होने से यश मिलता है। तुम दुर्बलों को मारकर भला क्या कीर्ति मिलने वाली है।"

यही तो कृष्ण चाहता था। अतः दोनों में मल्ल-युद्ध आरम्भ हो गया। वहीं यज्ञ-शाला के प्रांगण में, जहां उन स्नातकों को ठहराया गया था, दोनों लंगोटे कस निकल आये और युद्ध होने लगा।

इस युद्ध का समाचार सुन राज-प्रासाद के रहने वाले और पुरवासी भारी संख्या में युद्ध देखने वहां पहुंचे। युद्ध निरन्तर तेरह दिन तक चलता रहा। तेरह दिन के संघर्ष के बाद जरासंध का बल क्षीण होता दिखाई देने लगा। इस समय कृष्ण ने एक नर-कट हाथ में लेकर उसको लम्बाई में चीर डाला और युद्ध करते हुए भीम को संकेत किया।

भीम को जरासंध के शरीर की बनावट का स्मरण हो आया। उसने कृष्ण का संकेत समझ लिया। उसने इस बार जरासंध को भूमि पर पटक, उसकी एक टांग पर पांव रख दूसरी टांग पकड़कर ऊपर को खींच ली और उसके दो टुकड़े कर दिये।

इस प्रकार जरासंध की मृत्यु हो गयी। पहले तो जरासंध के पुत्र ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए युद्ध करने को सेना को बुलाया, परन्तु अर्जुन ने धनुष उठा उसकी टंकार की तो वह समझ गया कि जो वीर इस प्रकार सिंह की गुफा में आकर सिंह को मार सकते हैं, वे और भी कुछ कर सकते हैं।

उसने इनसे संधि कर ली। भीम तथा अर्जुन का सत्कार किया। उनको बहुत से रत्नादिक भेंट दिये और कृष्ण के कहने पर सब बंदी नरेशों को छोड़ दिया।

कृष्णादि जब लौटकर आये तो श्रीकृष्ण ने उक्त विवरण महाराज युधिष्ठिर को सविस्तार सुनाया। श्रीकृष्ण का कहना था, "अब समय है कि राजसूय-यज्ञ करने की घोषणा कर दी जाये। यह घोषणा महर्षि व्यासजी के द्वारा कराई जाये और वे ही इस यज्ञ को भी पूर्ण करायें। इसमें मेरा प्रयोजन है कि दुर्योधनादि इसमें कोई झगड़ा खड़ा न कर सकेंगे।"

जब व्यासजी को बुलाने के लिए राजदूत गया, तब कृष्ण ने मुझे हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और भीष्म जी को इस यज्ञ की योजना के अनुकूल करने के लिए वहां जाने को कहा।

मैंने वहां से चलने की तैयारी कर दी। जाने से पूर्व मैं और उर्मिला श्रीकान्त से मिलने के लिए गये। यूं तो हम वहां रहते हुए कई बार उसकी पाठशाला में जा चुके थे।

अब पाठशाला का रूप ही नवीन हो गया था। संगीत आदि की कलाएं सिखाई तो जाती थीं, परन्तु वे इतनी ही थीं जितनी जीवन में रस उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती हैं। एक दिन श्रीकान्त ने बताया कि उसकी अपनी रुचि में भी अन्तर आ गया है। अब नृत्य जो वह अपनी शिष्याओं को सिखाता था, उत्तेजक होने के स्थान शान्ति देने वाला होता था।

उसने मुझको समझाया था कि व्यायाम और नृत्य में यही अन्तर है कि व्यायाम में केवल शरीर ही लक्ष्य होता है। नृत्य में शरीर के साथ भाव भी प्रधान होते हैं। भावों का सम्बन्ध नृत्य करने वाले और और नृत्य देखने वालों के मन और आत्मा से होता है। अतः नृत्य में वे भाव जो मनुष्य के मन और आत्मा को विकृत करने वाले हों कभी भी वांछनीय नहीं हो सकते।

नृत्य में वासना उत्पन्न करने वाले भावों का प्रदर्शन तो मन और आत्मा को शरीर के अधीन करना होगा। मन के तीन भयंकर दोष राग, द्वेष और भय उत्पन्न करने वाले नृत्य तो अवांछनीय हैं। मन को इनसे मुक्त करने वाली कलाएं ही सीखने और करने योग्य हैं।

मैं और उर्मिला उसके विद्यालय में एक कला-समारोह देखने के

लिये गये। एक कन्या बिना शृंगार किये और उन वस्त्रों में ही जो वह नित्य पाठशाला में पहने आती होगी, नृत्य करने के लिए आई तो मुझको कुछ विचित्र प्रतीत हुआ। विद्यार्थियों के माता-पिता भी वहां आये हुए थे। वह भी लड़की को साधारण वेष-भूषा में देख विस्मय करते थे। परन्तु जब नृत्य चलने लगा और उसमें प्रदर्शित भावों की समझ आने लगी, तो नृत्य में रस आने लगा। कठिन से कठिन मुद्राओं का भी मन पर सीधा प्रभाव होने लगा।

नृत्य का शीर्षक था, "मां की वात्सल्यता।" उस लड़की ने दो घड़ी भर इस वात्सल्यता के भिन्न-भिन्न भावों का शरीर की मुद्राओं द्वारा प्रदर्शन किया। जब नृत्य समाप्त हुआ तो मुझको समझ आया कि क्यों इस नृत्य में शृंगारादि की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

हस्तिनापुर से जाते समय मैंने श्रीकान्त से पूछा, "आर्थिक दशा कैसी है श्रीकान्त!"

"ठीक है पिताजी! भोजन, वस्त्र, मकान तो अनायास ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त मान-प्रतिष्ठा जो राज्य तथा जन-साधारण में बन रही है, वह अति संतोषजनक है। हम यहां, अब विशेष व्यक्ति माने जाते हैं। राजकुमार नकुल प्रायः हमारी पाठशाला में आते रहते हैं। जब भी मैं उनको शिक्षा के विकास के लिए कोई नवीन योजना बताता हूं और समझाने में सफल होता हूं तो हमको राजकोष से सहायता भी मिलती है।

"हमारे यहां पढ़ने वाले विद्यार्थियों के सम्बन्धी भी दान-दक्षिणा से विद्यालय के कोष को सदा भरते रहते हैं।"

"हस्तिनापुर छोड़ने का पश्चात्ताप तो नहीं हो रहा ?"

"पश्चात्ताप क्या होगा ? हमें तो वहां से चले आने की भारी प्रसन्नता हो रही है।"

इस पर शकुन्तला जो अब तीन बच्चों की मां हो चुकी थी, पूछने लगी, "पर पिताजी! आप भला उस नरक कुण्ड में क्यों जा रहे हैं ?"

"शकुन्तला! भगवान् ने मेरे लिए कुछ काम नियत किया हुआ है। वह काम मैं अपने जीवनारम्भ से कर रहा हूं। उसे करने के लिए मुझको वहां जाना और रहना पड़ता है।"

"आप उस कार्य को छोड़ नहीं सकते ?"

"परमात्मा द्वारा नियत कार्य को छोड़ने की क्षमता भला किस में है। अब मैं फिर उसी कार्य के सम्बन्ध में जा रहा हूं।"

"ऐसा क्या कार्य है ? पिताजी !"

"राजनीति एक गन्दा कीचड़ है। कीचड़ में ही कमल खिलते हैं अतः इनको एकत्रित करने वाले को उस कीचड़ में जाना ही पड़ता है।"

मैंने कुछ स्वर्ण जो मेरे पास यात्रा में से बचे हुए थे, श्रीकान्त और शकुन्तला को दे दिये। वह पूछने लगे—"क्या यह महाराज धृतराष्ट्र से प्राप्त धन है ?"

"नहीं ! महाराज धृतराष्ट्र से मुझको दस वर्ष से ऊपर हो चुका है, कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। मैंने उनके काम पर अपने पास से कुछ व्यय किया हो तो किया हो। उनसे प्राप्त मेरे पास कुछ भी नहीं है। इसमें से अधिकांश महाराज युधिष्ठिर का दिया हुआ है। कुछ द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण का दिया हुआ है।"

हस्तिनापुर में पहुंच मुझको पता चला कि उर्मिला की लड़की लोमा का विवाह एक लोमश मुनि से हो चुका है। मेरे दूसरे लड़के जो नील-लोचना से उत्पन्न हुए थे, प्रतिष्ठानपुरी में विद्यालय खोलकर जीविकोपार्जन करने लगे थे। मेरा एक लड़का जो मोदमती से उत्पन्न हुआ था, पिताजी के आश्रम में उनकी सहायता कर रहा था। उसका विवाह वहीं आश्रम की एक कन्या से हो चुका था।

इस प्रकार मैं अब अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त हो चुका था। मैंने हस्तिनापुर में अपना मकान खुलवाया, उसकी शुद्धि करवाई और रहने लगा।

सबसे पहले मैं विदुरजी से मिलने गया। विदुरजी से राज-परिवार की सब सूचनाएं ले भीष्मजी के दर्शन करने उपस्थित हुआ।

भीष्मजी मुझको देख विस्मय से मेरा मुख देखने लगे। वे बोले, "कहां रहे हैं संजयजी !"

"महाराज ! तीर्थाटन के लिए गया था। भ्रमण के साथ-साथ तीर्थों पर ठहरने और वहां की साधु-संगत का फल उठाते हुए आठ वर्ष

के पश्चात् यहां आया हूं।"

"जरासंध की मृत्यु के विषय में सुना है ?"

"हां महाराज !"

"उसको छल से मारा गया है।"

"महाराज ! मेरी सूचना इसके विरुद्ध है। भीम और जरासंध में मल्ल-युद्ध हुआ था। मल्ल-युद्ध से पूर्व ही जरासंध को भीम का परिचय मिल गया था। जरासंध ने कृष्ण, अर्जुन और भीम में से भीम से ही युद्ध करना पसन्द किया था। उसने कहा था, "मैं उस योद्धा से ही युद्ध कर उसको परास्त करने का यश प्राप्त करना चाहता हूं जिसने द्रौपदी के स्वयंवर में सैंकड़ों नरेशों को एक लठ से हांक दिया था।

"महाराज ! यह युद्ध तेरह दिन तक चलता रहा। युद्ध के समय जरासंध के मन्त्रीगण तथा उसके पुत्र वहां खड़े युद्ध देख रहे थे। इस ओर से केवल कृष्ण और अर्जुन वहां पर थे। किसी ने युद्ध में हस्त-क्षेप नहीं किया।"

"कहते हैं कि कृष्ण, भीम और अर्जुन ब्राह्मण का वेश धारण कर वहां गये थे ?"

"हां ! यह ठीक है। परन्तु वह तो इस कारण था कि जरासंध कहीं उनसे भेंट ही स्वीकार न करता अथवा सैनिकों से ही उनको भिड़ा देता। ये तो जरासंध से युद्ध करने गये थे। जैसे कृष्ण कंस से युद्ध करने गया था।"

"परन्तु क्या यह ठीक हुआ है ?" भीष्मजी का प्रश्न था।

इस पर मैंने बताया, "महाराज ! मैं अभी-अभी इन्द्रप्रस्थ से ही आ रहा हूं। मैंने सब वृत्तान्त कृष्ण के मुख से सुना है। कृष्ण, भीम और अर्जुन तीनों युधिष्ठिर की अनुमति से ही युद्ध करने के लिये गये थे।"

"संजय जी ! हम न तो कंस की हत्या को युद्ध मानते हैं, न ही जरासंध की हत्या को।"

"इसमें आपको क्या संशय है ?"

"यदि युधिष्ठिर में शक्ति होती तो मगध पर आक्रमण कर देता और आक्रमण का आनन्द ले लेता।"

"महाराज ! यह इन्द्रप्रस्थ का मगध के विरुद्ध युद्ध नहीं था, न ही कंस की हत्या के समय गोकुल ने मथुरा से युद्ध कियाँ था। एक व्यक्ति उच्छृङ्खल व्यवहार कर रहा था। वह दुष्टता तो स्वयं करता था और अपनी रक्षा सेना के पीछे होकर कर लेता था। कुछ लक्ष सैनिक अपने वेतन और अन्य सुविधाओं के लिए भोली-भाली प्रजा पर एक दुष्ट का शासन स्थापित किये हुए थे।

"विरोध तो उस दुष्ट का था। देशों में युद्ध कर कोटि-कोटि जन की हत्या करना उद्देश्य नहीं था। महाराज कंस की हत्या के पश्चात् मथुरा में भारी हर्ष का प्रदर्शन हुआ या। इसी प्रकार जरासंध की मृत्यु पर गिरिव्रज की प्रजा ने सुख का सांस लिया है।

"जरासंध ने कई सौ नरेशों को बंदी बनाया हुआ था। उनको बन्दी रखने में न तो प्रजा ही दोषी थी, न ही अनेकों सैनिक। अतः इस कारण उनको युद्ध के लिये आह्वान देना तो व्यर्थ होता। हां, यदि जरासंध की सेना जरासंध की रक्षा के लिये आती तो उसकी हत्या आवश्यक हो जाती।

"जरासंघ के पुत्र ने सेना लेकर कृष्णादि पर आक्रमण करने का विचार किया था। तब अर्जुन ने आग्नेय अस्त्र निकाल लिया था। इस पर जरासंघ के पुत्र की समझ में आ गया कि वह भूल करनेवाला है। इस कारण उसने अर्जुन के द्वारा युधिष्ठिर से सन्धि करनी ही उचित समझी है।

"महाराज ! इस समय पूर्ण भारत में जरासंध की मृत्यु पर हर्ष मनाया जा रहा है। भीमसेन को इस कार्य के करने पर, बधाइयों का तांता लगा हुआ है।"

भीष्मजी ने पूछ लिया, "परन्तु इस दुस्तर और भयावह कार्य को करने के लिये युधिष्ठिर ने आज्ञा ही क्यों दी ? इसमें भीम की मृत्यु भी तो हो सकती थी।"

"महाराज ! पिछले वर्ष नारद मुनि इन्द्रप्रस्थ में आये थे। उन्होंने पांचों पांडवों के राज्य-प्रबन्ध की श्रेष्ठता को देख तथा उनका कोष स्वर्ण तथा रत्नों से भरपूर देख, सम्मति दी कि युधिष्ठिर राज-सूय-यज्ञ कर सम्राट-पद ग्रहण करे।

"इस यज्ञ को करने में जरासंध एक बाधा था। अतः उसको मार्ग से दूर करने के लिये ही यह भययुक्त कार्य किया गया।"

"तो युधिष्ठिर राजसूय-यज्ञ करेगा ?"

"इसी निमित्त महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यासजी को बुलाया गया है। जैसा वे कहेंगे वैसा ही किया जायेगा।"

"दुर्योधन इसका विरोध करेगा।"

"महाराज ! यह तो अनर्थकारी होगा। हस्तिनापुर नर-रक्त में सन जायेगा। इस समय पांडवों की बराबरी कौरव नहीं कर सकते।"

"कर्ण के विषय में क्या समझते हो ?"

"कर्ण अर्जुन के सदृश ही धनुर्धारी है, परन्तु उसका चित्त स्थिर नहीं। वह किसी एक बात पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। सबसे बड़ी बात महाराज, श्रीकृष्ण की है। इस समय भारत में उन जैसा नीतिमान कोई दिखाई नहीं देता। जहां श्रीकृष्ण और अर्जुन होंगे, वहाँ विजय होगी।"

भीष्मजी ने आगे कुछ नहीं कहा। उन्होंने पूछ लिया, "धृतराष्ट्र से मिले हो ?"

"यहाँ से वहीं जाऊंगा।"

मैं धृतराष्ट्र से मिलने के लिये गया। धृतराष्ट्र तो जरासंध की मृत्यु से प्रसन्न था। जरासंध के भय से भारत के कई नरेश कौरवों को कर देना बन्द कर चुके थे। वे जरासंध को कर देने लगे थे। उनको वही उनका रक्षक दिखाई देने लगा था।

अब जरासंध की मृत्यु से धृतराष्ट्र को अनुमान था कि वे राजे पुनः कौरवों के आश्रय में आ जायेंगे।

परन्तु जब मैंने बताया कि युधिष्ठिर राजसूय-यज्ञ करने वाला है तो वे चिन्ता करने लगे। उसी समय दुर्योधन को बुलाया गया। मुझको राजसूय-यज्ञ की सूचना उसको देनी पड़ी। मेरी बात सुन दुर्योधन ने कहा, "हम यह नहीं होने देंगे।"

"तो तुम अपने भाइयों से लड़ोगे ?" धृतराष्ट्र का प्रश्न था।

"राजकार्य में कोई भाई-बन्धु नहीं है। उसमें या तो मित्र होते हैं अथवा शत्रु।"

मैंने कह दिया, राजकुमार! यह श्रेष्ठ जनों की नीति नहीं है। उनकी नीति तो यही है कि श्रेष्ठ धर्म-परायण-जन मित्र हों और अधर्मा-चरण करने वाले शत्रु हों।

"जो हमारी हानि करता है, वह धर्म-परायण कैसे माना जा सकता है?"

"मेरी जानकारी में युधिष्ठिर ने आपको कभी कोई हानि नहीं पहुंचाई।"

"यह राजसूय-यज्ञ करना ही हानि करने वाला है।"

"मेरे विचार से इससे कुरु-वंश की ख्याति में वृद्धि ही होगी।"

"कैसे तात?"

"पांडव आपके भाई हैं। युधिष्ठिर तुम में से आयु में बड़ा है। अतः यदि वह सम्राट बनेगा तो कुरु-वंश ही तो चक्रवर्ती वंश कहलायेगा।"

इस पर धृतराष्ट्र ने बताया, "बेटा! भीम ने मल्ल-युद्ध में जरा-संध को मार डाला है। यह पराक्रम का कार्य तुम में से कोई भी नहीं कर सकता था। अतः राजसूय-यज्ञ करने का अधिकारी भी भीम का भाई युधिष्ठिर ही बन गया है।"

दुर्योधन इस कठोर सत्य से न नहीं कर सका। अतः वह चुप कर गया। धृतराष्ट्र को मैंने बताया, "कदाचित् व्यास जी आपसे, इस विषय में बातचीत करने के लिये यहाँ आ रहे हैं।"

इसके पश्चात् बात समाप्त हो गयी। मेरी दी हुई सूचना राज-प्रासाद के सेवकों और फिर उनसे पूर्ण नगर तथा राज्य में फैल गयी। लोग मुझसे मेरे घर पर आ-आकर इस सूचना का समर्थन मांगते थे। जब मुझसे इस सूचना का समर्थन पा जाते तो बहुत प्रसन्न होते। उनको अभी भी युधिष्ठिर का सुख-कारक राज्य भूला नहीं था।

: ७ :

कुछ दिन पश्चात् महर्षि व्यासजी आये और पुनः एक पारिवारिक गोष्ठी हो गयी। इसमें भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा धृतराष्ट्र, दुर्योधन और उसके भाई, कर्ण, शकुनी और विदुरजी भी सम्मिलित हुए। मैं इसमें नहीं बुलाया गया था। इस गोष्ठी में जो

कुछ हुआ उसका वृत्तान्त बाद में विदुरजी ने मुझको बताया था।

महर्षि व्यास जी ने पूछा भी कि मुझे क्यों नहीं बुलाया गया। उत्तर दुर्योधन ने दिया, 'संजय जी के विचार हम जानते हैं। इस कारण उनसे सम्मति लेने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।"

महर्षि ने कहा था, "संजयजी अभी भारत-भ्रमण कर लौटे हैं। वे अपने भ्रमण में देश के बहुत से राजाओं और उनकी प्रजा से मिलकर आये हैं। उनकी सम्मति बहुत सीमा तक लाभदायक हो सकती थी।"

"वे अपने भ्रमण की बात बता चुके हैं। उनकी तो एक ही युक्ति है कि हममें से कोई राजसूय-यज्ञ कर ही नहीं सकता। इस कारण हमें युधिष्ठिर को सम्राट मान लेना चाहिए।"

"तो यह युक्ति ठीक नहीं है क्या ?"

"ठीक हो सकती थी। परन्तु अब तो जरासंध मर चुका है। वह ही सबसे बड़ी बाधा थी। उसके देहान्त के पश्चात् हम क्यों सम्राट-पद ग्रहण नहीं कर सकते ?"

"इस कारण कि जरासंध को मृत्यु के घाट उतारने वाला अभी जीवित है। वह एक पांडव है, तुम नहीं हो। सैकड़ों राजा जो जरासंध ने बन्दी कर रखे थे उनको स्वतन्त्र करने वाला भीम है, तुम नहीं हो। यदि उनसे अर्जित सम्राट-पद तुम छीनना चाहोगे तो उनका अधिकार बन जायेगा कि वे तुमसे लड़ पड़ें। उस समय तुम्हारा पक्ष दुर्बल पड़ जाएगा।"

"महर्षिजी !" दुर्योधन का कहना था, "जहां कर्ण जैसे धनुर्धारी, गुरु द्रोण जैसे अस्त्र-शस्त्रधारी, पितामह जैसे बाल ब्रह्मचारी और फिर हम सौ भाई और हमारे ससुराल वाले राजे-महाराजे, ये सब तो हमारी ओर होंगे और दूसरी ओर केवल पांडव और कृष्ण ही तो हैं। कृष्ण के सजातीय बलराम भी तो पांडवों के पक्ष में नहीं। ऐसी अवस्था में जरासंध को धोखे से मार डालने वाले भला कैसे जीत सकेंगे ?"

इस पर सबसे पहले भीष्मजी ने कहा, "दुर्योधन ! यदि तुमने इस यज्ञ को करने की इच्छा पहले प्रकट की होती तो मैं तुम्हारी ओर से युद्ध करता और मुझको विश्वास है कि युधिष्ठिर तुम्हारा विरोध न करता। अब जबकि उसने इस यज्ञ का श्रीगणेश किया है, उसने अपने

सम्राट पद को प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा दूर कर ली है। तब उसकी सहायता क्यों न करूं? यदि तुमने इसका विरोध किया तो मैं तुम्हारा विरोध करूंगा।"

दुर्योधन अभी भीष्म पितामह के वाक्यों के अर्थ समझने का ही यत्न कर रहा था कि द्रोणाचार्य बोल उठा, "दुर्योधन ! मैं इस विषय में निष्पक्ष रहूँगा। मेरे लिये तुम दोनों एक समान हो। तुम्हारे इस परस्पर के झगड़े में मैं नहीं पड़ूँगा।"

कृपाचार्य ने भी द्रोणाचार्य की बात का ही समर्थन कर दिया।

इस पर महर्षि व्यासजी ने कहा, "दुर्योधन ! मानव-दुर्गुणों में ईर्ष्या सबसे बुरी बात है। यह विनाश की ओर प्रथम चरण है। इसको छोड़ दो।

"सुनो ! राजसूय-यज्ञ केवल राजाओं को विजय करने से सफल नहीं हो सकता। इसकी सफलता के लिये एक अत्यावश्यक पूर्ति है प्रजा पर सत्य और न्याय का राज्य स्थापित करना। इस समय युधिष्ठिर की प्रजा उससे पूर्णरूपेण सन्तुष्ट है। वहां धर्म-कर्म आदि निर्भीकता से होते हैं। वहां सब के मन में परमात्मा का भय विराजमान है। कोई अपने से हीन-दीन पर बल प्रयोग नहीं करता। केवल इतना ही नहीं, देश के सब राज्यों की प्रजा युधिष्ठिर से इतनी सन्तुष्ट है कि उसके सम्राट बनने में अपना लाभ समझती है।"

"ये सब बताने की बातें हैं महर्षिजी ! वास्तविकता क्या है? वह आप कैसे जानते हैं?"

"इसीलिये तो मैं चाहता था कि संजयजी से अपने विषय में जन-मत जान लेते तो तुम्हें संतोष हो जाता।

"बताओ तुमने अपने राज्य में एक बार भी प्रजा का दर्शन किया है? तुम्हारी प्रजा तुमको पहचानती तक नहीं। उधर युधिष्ठिर नित्य ही नगरों और गांवों में जाता रहता है। वह निर्धन-से-निर्धन नागरिक से पहचाना जाता है। लोग उसके पास ऐसे जाते हैं जैसे पुत्र पिता के पास कुछ मांगने के लिए जाता है।

"ऐसी अवस्था में तुम्हारे सम्राट बनने में तुम्हारी अपनी प्रजा ही तुम्हारा विरोध करेगी। अन्य राज्यों की प्रजा की तो बात ही

जाने दो।"

इस समय दुर्योधन के प्रस्ताव सब का वृद्ध जनों ने विरोध किया। इस विरोध को सुन शकुनी, जो सबसे पीछे बैठा था, उठकर दुर्योधन के पास आ बैठा। उसने दुर्योधन को चुप रहने का संकेत कर स्वयं कहना आरम्भ कर दिया, "मैं दुर्योधन से यह अनुरोध करूंगा कि वह इस राजसूय-यज्ञ का विरोध न करे। प्रत्युत वह युधिष्ठिर को सहयोग दे।

"युधिष्ठिर भी तो इसका भाई ही है। उसे उन्नति करते देख इसे प्रसन्न होना चाहिये।

"केवल एक बात मैं चाहता हूं कि युधिष्ठिर अपने कौरव भाइयों का उचित मान करे। देश-विदेश से आये नरेशों के सम्मुख, युधिष्ठिर को इनके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे कौरवों और पांडवों में किसी को भेद-भाव समझ न आये।"

अब व्यासजी ने कहा, "इस विषय में मैं युधिष्ठिर के विचार बताता हूं। वह तो भीष्मजी की सम्मति से ही सब कार्य करने का विचार रखता है। वह अपने कौरव भाइयों को इस यज्ञ में सम्मानित कार्य देने का विचार रखता है। वह आप सबको यथा-योग्य मान-युक्त पद पर आसीन करने का विचार रखता है।"

"तो महर्षिजी!" शकुनी ने कह दिया, "उनको यह विश्वास दिला दीजिये कि विरोध तो दूर रहा, उनकी प्रत्येक प्रकार से हम सहायता भी करेंगे।"

इस प्रकार बात बन गई। विदुरजी ने यह सब वृत्तान्त बताते हुए कहा, "संजयजी! इसमें आश्चर्य की बात तो यह है कि दुर्योधन की बात का समर्थन न तो शकुनी ने ही किया और न ही कर्ण ने।"

"हां, यह विस्मय करने की बात तो है ही, परन्तु विदुरजी! इसका कारण भीष्मजी तथा द्रोणजी की स्पष्टोक्ति ही प्रतीत होती है।"

"नहीं संजयजी! मुझको इसमें कोई कूटनीतिक रहस्य प्रतीत होता है। हमें इसको जानने का यत्न करना चाहिये।"

विदुरजी के कथन का समर्थन इस बात से हो गया कि उक्त वार्तालाप के दो मास के भीतर ही शिशुपाल हस्तिनापुर आया और शिशुपाल, शकुनी, कर्ण और दुःशासन आदि बन्द कमरे में कई दिन तक घड़ियों ही

नित्य बैठ विचार-विनिमय करते रहते। शिशुपाल गया तो दुःशासन इन्द्रप्रस्थ चला गया। वह वहां कुछ दिन रहकर लौट आया। तत्पश्चात् वह शिशुपाल से मिलने के लिए उसके राज्य में चला गया।

दुःशासन की इस भाग-दौड़ का कुछ कारण ज्ञात नहीं हुआ। वारणावत की योजना को असफलता के बाद दुर्योधन और उसके साथी बहुत ही सतर्क हो गये थे। इसीलिये पूर्ण प्रयत्न करने पर भी यह पता न चल सका कि ये लोग क्या करने जा रहे हैं ?

इस समय ही, जब मैं इनकी भागदौड़ का कारण जानने का यत्न कर रहा था, मुझको देवलोक बुला लिया गया। इन्द्र जानना चाहता था कि दुर्योधन इस यज्ञ के विषय में क्या करने का विचार रखता है ?

मैंने देवेन्द्र को बताया कि किस प्रकार दुर्योधन विरोध के लिये डटा हुआ था, परन्तु शकुनी के कहने पर वह भीगी बिल्ली की भांति चुप बैठा रहा। मैंने इस घटना के पश्चात् शिशुपाल इत्यादि से हो रहे विचार-विमर्श का भी उल्लेख किया।

पूर्ण वृत्तांत सुन देवेन्द्र ने कहा, "आप इसमें कारण जानने का यत्न करिये। मुझको संदेह हो रहा है कि ठीक समय पर यह किसी प्रकार का विघ्न खड़ा करेंगे।"

"श्रीमान् ! हमने अपने गुप्तचर दुर्योधन के पक्ष में लगाये हुए हैं, परन्तु अभी तक कोई रहस्य वाली बात पता नहीं चली।"

इस पर इन्द्र ने कह दिया, "हमारी गणना के अनुसार परिवार के दोनों अंगों में युद्ध इस यज्ञ के समय हो जायेगा। कौरव कोई-न-कोई ऐसी बात कर देंगे, जिससे यज्ञ में विघ्न पड़ेगा। इससे इन सबकी हत्या हो जायेगी। तत्पश्चात् यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगा।"

मैं इस भविष्यवाणी से भिन्न अनुभव करने लगा था। मैं समझता था कि यज्ञ के समय यदि पांडवों को अपने भाइयों की हत्या करनी पड़ी तो यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकेगा। यह अधूरा ही रह जायेगा।

मुझको चिन्तित देख इन्द्र ने कह दिया, "आपको यह सब पसन्द नहीं न ? यूं तो मैं भी यज्ञ-जैसे शुभ कार्य में नर-हत्या को पसन्द नहीं करता। परन्तु यज्ञ में विघ्न डालने वालों की हत्या तो पुण्य कार्य है। यह पाप नहीं कहा जा सकता।

"देखो संजय ! विश्वामित्र के यज्ञ में ताड़कादि राक्षसों ने विघ्न डाला था। तब राम ने उनकी हत्या की थी। राजर्षि विश्वामित्र ने उनको मरवाया। उनको इस बात का पश्चात्ताप नहीं लगा।"

मैं वर्तमान स्थिति और तब की बात में अन्तर समझता था। साथ ही मैं तो यज्ञ के पूर्ण होने की बात पर विचार कर रहा था। विश्वामित्र ने स्वयं किसी की हत्या नहीं की थी। स्वयं यज्ञ में लीन रहने के लिये राम और लक्ष्मण को वहां ले आये थे। परन्तु यहां यदि पांडवों ने स्वयं यह हत्याकांड किया तब सब नरेश चुपचाप चल देंगे जिससे यज्ञ पूर्ण हो नहीं सकेगा। इस पर भी मैंने देवेन्द्र की युक्ति का उत्तर दे दिया। मैंने कहा, "यह ठीक है महाराज ! परन्तु ताड़का एक राक्षसी थी। ये तो भाई-बन्धु होंगे। दूसरे, विश्वामित्र का यज्ञ कोई राजसूय-यज्ञ न था। यहां तो आये हुए सभी नरेशों और अतिथियों का सहयोग अत्यावश्यक है।"

"कौन कहता है कि ऐसा न हो ?" इन्द्र ने मुस्कराते हुए कहा, "परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कौरव यज्ञ में कोई ऐसा विघ्न उपस्थित करेंगे जिससे कृष्ण की अनुमति से भीम और अर्जुन इन सब भाइयों की हत्या कर देंगे।

"इसमें हम केवल यह कर सकते हैं कि यदि हमको विदित हो जाये कि किस प्रकार का विघ्न पड़ने जा रहा है, तो हम उसका विरोध अभी से करें, जिससे यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो जाये।

"परन्तु हमारे विरोध पर भी यदि दुष्ट दुष्टता पर तुले रहे तो तुम या मैं क्या कर सकते हैं ? वास्तव में यह सत्य है कि होनी बड़ी प्रबल है। कोई इसको टाल नहीं सकता।"

"महाराज ! मैं इस विषय में जानकारी प्राप्त करूंगा। यदि कुछ पता चल गया तो भीष्मजी से कहकर उस विघ्न का निवारण करने का यत्न करूंगा।"

इस बार मैं कई दिन देवलोक में रहा और वहां के स्वास्थ्यप्रद जलवायु से अपनी जीवन-भर की थकावट दूर करता रहा। इन दिनों इन्द्र मुझको चित्र बनाने को कहता रहा। परन्तु मैंने तूलिका को हाथ तक नहीं लगाया। इन्द्र मेरे इस हठ से कुछ रुष्ट भी हुआ, परन्तु मैंने

स्पष्ट कह दिया कि मुझे नग्न स्त्रियों के चित्र बनाने में किंचित् मात्र भी रुचि नहीं।

"संजयजी ! आप वृद्ध हो गये प्रतीत होते हैं।" इन्द्र ने व्यंग्य के भाव में मुझको कह दिया।

"हां महाराज !" मेरा उत्तर था, "आपको इस विषय में अनुमान लगाने की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु महाराज ! मेरी वृद्धावस्था ज्ञानशुद्धि की सूचक है। मुझको इस कार्य की व्यर्थता का ज्ञान हो गया है।"

"क्या ज्ञान और शिथिलता पर्यायवाचक हैं ?"

"नहीं महाराज। ज्ञान चेतना का पर्याय है। नास्तिकों के लिए ज्ञान अविचलता तथा अस्पंदता का अर्थ रखता है। हम आस्तिकों के लिए ज्ञान का अर्थ उस परमेश्वर की, जो चैतन्य-स्वरूप है, अपने में अनुभूति है।"

इन्द्र हंसने लगा। परन्तु मैं इस समय इन्द्र से विवाद करने को तैयार नहीं था। मैंने बात को टाल पूछा, "मुझको अब हस्तिनापुर जाना चाहिये अथवा इन्द्रप्रस्थ ?"

: ८ :

मैं हस्तिनापुर लौटा तो पता चला कि युधिष्ठिर के चारों भाई चारों दिशाओं में दिग्विजय के लिये इन्द्रप्रस्थ से निकल चुके हैं। मुझको यह जानकर विस्मय हुआ कि दुःशासन शिशुपाल से मिलकर लौट आया है। शकुनी चेदि राज्य में उसी से मिलने गया है। इससे भी अधिक विस्मयजनक बात यह पता चली कि चेदिराज शिशुपाल, भीष्मक तथा भीष्मक के पुत्र रुक्म ने युधिष्ठिर की दिग्विजय में विरोध नहीं किया। प्रत्युत उचित कहकर युधिष्ठिर को स्वेच्छा से कर भेज दिया।

मैं तो यह आशा लगाये हुए था कि भीष्मक और शिशुपाल जरासंध के मित्र हैं। वे जरासंध की मृत्यु का बदला लेने के लिए भीम से अपनी पूर्ण सेना को लेकर लड़ेंगे। पर ऐसा नहीं हुआ। ज्योंही युधिष्ठिर का सन्देश गया कि वह राजसूय-यज्ञ करने जा रहा है, त्यों

ही इन नरेशों ने अपने-अपने भाग का कर, रत्नादिक के रूप में भेज दिया।

शकुनी शिशुपाल से भेंट कर लौटा तो भीम की विजय के और भी बहुत से समाचार प्राप्त हुए। वास्तव में जरासंध के बंदी-गृह से छूटे नरेश पूर्ण देश में चले गये थे जिससे पूर्ण देश का वातावरण पांडवों के अनुकूल हो गया था।

अर्जुन उत्तर दिशा में कुलिंद, कालकूट, आनर्त, शकल द्वीप, प्रति-विन्ध; प्राग-ज्योतिषपुर, किरात, चीन, यवनदेश, अन्त-गिरि, इत्यादि उत्तर सागर के तट तक के देशों से भारी कर लेकर लौटा।

भीम पूर्व दिशा में गया, वहां के समस्त राजाओं को परास्त कर उनसे कर लेकर वापस आ पहुंचा।

सहदेव दक्षिण और नकुल पश्चिम दिशा के प्रायः सब राज्यों को अधीन कर लौटे थे। इस सार्वभौमिक विजय में जहां जरासंध की मृत्यु का हाथ था, वहां युधिष्ठिर की धर्म-परायणता और ख्याति ने भी कार्य सुगम कर दिया था। इसमें मेरा भ्रमण भी कुछ सीमा तक सहायक रहा था।

इस प्रकार दिग्विजय के पश्चात् यज्ञ की तिथियां निश्चित कर, दूतों द्वारा नरेशों को निमन्त्रण भेज दिये गए। निश्चित तिथि से पूर्व ही चारों दिशाओं से चारों वर्णों के लोग इन्द्रप्रस्थ में आने आरम्भ हो गये।

युधिष्ठिर पितामह, आचार्य और धृतराष्ट्र को निमन्त्रण देने के लिए स्वयं आया। उसके स्वयं आने से वृद्धजन बहुत ही प्रसन्न हुए। युधिष्ठिर ने दुर्योधन और उसके भाइयों तथा कर्ण को भी निमन्त्रण दिया। साथ ही उसने उनको कहा, "यज्ञ एक पारिवारिक कृत्य है। इसके सफल होने पर यश और असफल होने पर अपयश परिवार को ही मिलने वाला है। अतः आप सबको आना चाहिये और इसकी सफलता में सहयोग देना चाहिये।"

युधिष्ठिर के यज्ञ में सबसे पहले श्रीकृष्ण आये। कृष्ण के साथ यदुवंश के मुख्य-मुख्य व्यक्ति भी पधारे थे। ये सब महाराज युधिष्ठिर के लिए नाना प्रकार के रत्न तथा बहुत-सा धन भेंट में देने के लिये लाये।

भूमण्डल की चारों दिशाओं से कर-प्राप्ति के कारण युधिष्ठिर का कोष अपार धन-राशि से भर गया था। जब राजा-महाराजा आये तो भेंट-रूप में और भी स्वर्ण तथा अपने-अपने देश की अद्भुत वस्तुएं लेकर आये।

श्रीकृष्ण के पश्चात् व्यासजी अपने साथ बहुत से ऋषियों को लेकर आये। व्यासजी के आने पर यज्ञ का कार्य आरम्भ हुआ। उन्होंने आते ही यज्ञ में ब्रह्मा का कार्य सम्भाला और ऋत्विज सुषामा सामगान करने वाले बन गये।

व्यासजी ने युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा दी तो कार्य आरम्भ हो गया। दीक्षा के पश्चात् युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणों के साथ यज्ञमंडप में गये। ब्राह्मणों के पीछे-पीछे युधिष्ठिर के सगे भाई, जाति भाई-बन्धु, सहायक, देश-विदेश से आये हुए क्षत्रिय-नरेश तथा मन्त्रीगण यज्ञ-मण्डप में पहुंचे।

सहदेव को राजा-महाराजाओं के स्वागत तथा उनको यथोचित स्थानों पर ठहरा कर, उनकी सुख-सुविधा का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त किया गया था। ये सब अभ्यागत मय-दानव द्वारा निर्मित सभा-भवन में ठहराए गये। महाराज युधिष्ठिर ने दुःशासन को पथ्य-योग्य सामग्री की देखभाल करने के लिए नियुक्त कर दिया।

राजाओं की सेवा और सत्कार के लिए मुझको नियुक्त किया गया। भीष्म और द्रोणाचार्य को समस्त कार्यों की उचित व्यवस्था के लिए लगा दिया गया। वे सबको जो-जो काम उसके योग्य होता था बताते और अपनी सम्मति देते थे।

राजा-महाराजाओं द्वारा लाये गए रत्नों, स्वर्ण इत्यादि की परख और उन्हें विधिवत् रखने का कार्य कृपाचार्य को दिया गया। धन के व्यय करने पर विदुरजी को लगाया गया।

जब सब काम सगे-सम्बन्धियों में बांटे जा रहे थे, तब श्रीकृष्ण ने एक काम अपने लिए अपनी इच्छा से स्वीकार कर लिया। यह यज्ञ-मण्डप के द्वार के समीप बैठ सब ऋषियों, ऋत्विजों और ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन कार्य था।

अभ्यागतों तथा विद्वान ब्राह्मणों से युधिष्ठिर का सभा-भवन खचा-

खच भर गया था। जब सब आ गये तो छः अग्नियों की स्थापना हुई।

विदुरजी से यह कह दिया गया कि कोई भी ब्राह्मण धन-धान्य से तृप्त हुए बिना न लौटे। दुःशासन को यह आज्ञा थी कि चारों वर्ण के लोगों को पेट भरकर खाना मिले।

यज्ञ आरम्भ करने से पूर्व यह निश्चय करना था कि यज्ञ में अग्र पूजा किसकी हो। भीष्मजी का विचार था कि इस कार्य के लिए हर प्रकार से योग्य श्रीकृष्ण ही हैं। अतः इस निश्चय के पश्चात् नारद-जी ने यज्ञ मण्डप में सब उपस्थित राजा-महाराजों, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र-वर्गीय अभ्यागतों और युधिष्ठिर के परिवार के बड़े और युवकों के सम्मुख कहा, "सभ्यगण, मुझे लोक-पितामह श्री ब्रह्माजी ने देवताओं की ओर से कुरुनन्दन युधिष्ठिर को इस यज्ञ के आयोजन पर आशीर्वाद देकर भेजा है।

"ऐसे यज्ञ प्रजापति राजा-महाराजा तब करते हैं जब भूमण्डल पर मानव-समाज में विच्छिन्नता, विघटन और विग्रह उत्पन्न हो जाये। पूर्ण मानव-समाज को पुनः एक सूत्र में बांधने के लिए यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है।

"इस समय भी कुछ दुष्टों के संसार में जन्म पा जाने से पूर्ण मानव-समाज विश्रृंखल हो रहा है। उसमें कंस और जरासंध विशेष रूप से कार्य कर रहे थे। इन दोनों को निःशेष करने पर ही इस यज्ञ की पूर्ति हो सकी है।

"संसार-भर के क्षत्रिय-कुल नरेश यहां पर आज विद्यमान हैं। वे अपने साथ महाराज युधिष्ठिर को देने के लिए ढेरों रत्न और स्वर्ण लाये हैं। यह धन पुनः प्रजा में और अधिकारियों में बांट दिया जायेगा। यही राजा का कर्तव्य होता है। समाज की अर्जित पूंजी को श्रेष्ठ और उचित धाराओं में प्रवाहित कर संसार-कल्याण में लगा देना धर्मात्मा राजाओं का कार्य होता है। यह सब यहां होने जा रहा है।

"आज हमको इस यज्ञ में प्रमुख पूज्य व्यक्ति की नियुक्ति करनी है। मैंने निवेदन किया है कि मानव-समाज में विघटन लाने में मुख्य व्यक्ति कंस और जरासंध थे। उनके मृत्यु को प्राप्त करने पर ही यह

यज्ञ होना सम्भव हो सका है। अतः उन दोनों व्यक्तियों को निःशेष करने में जिसका मुख्य हाथ रहा है, उसी को मैं इस महान यज्ञ का प्रमुख नियुक्त करने का प्रस्ताव करता हूं। ये हैं वृष्णि-वंशीय हृषीकेश भगवान कृष्ण। मेरे इस प्रस्ताव की सराहना और स्वीकृति कुरुवंश पितामह भीष्मजी ने दे दी है। अतः मैं उनसे निवेदन करता हूं कि वे सभापति के आसन को ग्रहण कर हम सबको अनुग्रहीत करें।"

जब भगवान पद प्राप्त श्रीकृष्ण सभापति के आसन पर आकर बैठे तो युधिष्ठिर उठ आगे आये। उन्होंने श्रीकृष्ण के पाद-प्रक्षालन किये। पाद-प्रक्षालन के पश्चात्, चेदिराज शिशुपाल अपने आसन से उठकर सभामण्डप में आ गया। वहां खड़ा होकर सभा को सम्बोधन कर वह कहने लगा—

"मैं इस पद के लिए कृष्ण की नियुक्ति किये जाने का विरोध करता हूं। पांडवों को यह विदित होना चाहिये कि कृष्ण तो कहीं का भी राजा नहीं। द्वारिका में गणराज्य है और गणराज्य के गणपति वसुदेव हैं। वहां का राज्य तीन वंशों में विभक्त है। श्रीकृष्ण वहां पर कुछ भी नहीं हैं।

"श्रीकृष्ण किसी प्रकार से शौर्यवान् योद्धा भी नहीं। वह जरासंध से भयभीत मथुरा छोड़ भाग गये थे। इसी से उनका नाम रणछोड़ प्रसिद्ध है।

"वे आयु में भी बड़े नहीं। भीष्म पितामह के रहते वे इस पद के योग्य नहीं।

"वे वेद-वेदांग के ज्ञाता भी नहीं। महर्षि द्वैपायन व्यासजी के रहते हुए वे इस पद को पाने के योग्य नहीं हैं।

"मैं इस नियक्ति का घोर विरोध करता हूं। मुझे खेद तो इस बात का है कि भीष्म-जैसे धर्मात्मा और महामना भी मुंह-देखी बात करने लगे हैं।

"पांडवों ने यह अनुचित कार्य किया है। इसका विरोध हम सब स्वाभिमानी राजाओं द्वारा होना चाहिये। पांडवों ने कृष्ण को इस प्रकार सम्मानित कर हमारा अपमान किया है।

"हे युधिष्ठिर! हम सब राजाओं ने तुमको कर और भेंटस्वरूप

इतना कुछ दिया है। यह इस कारण नहीं कि हम तुमसे दुर्बल हैं और अब तुम्हारे अधीन हैं। हमारे यहां आने का यह कारण है कि हम तुमको धर्मात्मा समझते थे। परन्तु तुमने यह अधर्म का ही काम किया है। तुमने वयोवृद्ध जनों, आचार्य विद्वान्, ऋत्विजों, शूरवीरों और राज्यपद-प्राप्त नरेशों का अपमान कर एक साधारण व्यक्ति को जो न राजा है, न विद्वान् है, न शूरवीर ही है, हम सबके सिर पर ला बिठाया है। यह हमारा घोर अपमान है।"

युधिष्ठिर इस प्रकार सम्बोधन किये जाने पर बोला, "राजन्! आपने जो कुछ कहा, वह उचित नहीं। भीष्मजी हमारे पूज्य और बड़े हैं। वे धर्म के तत्त्व को जानते हैं। उन द्वारा ही नियुक्ति हमने शिरोधार्य की है। अब श्रीकृष्ण के विषय में किसी प्रकार की भी अनादरयुक्त बात कहना, हमारे परिवार के वृद्ध एवं धर्मात्मा पुरुषों का अनादर करना होगा। अत: मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप अपनी आपत्ति को वापस ले लें और कार्य को चलने दें।

"श्रीकृष्ण क्षत्रियों में श्रेष्ठ, युद्ध में विजयी, नीतिमान और तेजस्वी हैं। उनका इस पद के लिये निर्वाचन अनुचित नहीं कहा जा सकता। कंस को अकेले मल्ल-युद्ध में परास्त करने वाले, तथा जरासंध की मृत्यु में कारण वे ही हैं। उनका सम्मान न करना सर्वथा अनुचित है।

"चेदिराज! हम श्रीकृष्ण की पूजा इस कारण नहीं कर रहे कि वह हमारे सम्बन्धी हैं। प्रत्युत इस कारण कि वे ही सर्वगुण सम्पन्न हैं।"

पितामह भीष्म जी ने भी शिशुपाल को समझाया। उन्होंने कहा, "जब-जब भूमि पर दुष्ट प्रकृति के लोगों का बाहुल्य हो जाता है, तब-तब ही भगवान नारायण अपनी विशेष शक्ति से इस सृष्टि का उद्धार करने के लिये यहां मानव-रूप में जन्म लेते हैं। नरसिंह, परशुराम, वामन इत्यादि कई रूपों में भगवान की विशेष शक्ति का प्रादुर्भाव होता रहता है।

"चेदिराज! आजकल वही शक्ति श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हो रही है। इसकी अवहेलना मत करो। इसी में लोक-कल्याण निहित है।"

भीष्मजी के यह वाक्य सुन सब राजा चुप कर गये। तत्पश्चात् माद्री कुमार सहदेव ने कहा, "भीष्मजी के उक्त कथन के पश्चात् अब किसी प्रकार का वाद-विवाद ठीक नहीं है। पितामह हमारे पूज्य हैं। हम उनकी आज्ञा का ही पालन कर रहे हैं। अब किसी को इस पूजा में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

"यदि अब भी कोई ऐसा हो, जिसको इस प्रकार श्रीकृष्ण का सभापति होना स्वीकार न हो तो उससे मेरा निवेदन है कि वह इस यज्ञ से जा सकते हैं।"

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की पूजा आरम्भ हुई। पूजा पूर्ण हो गयी। मैं शिशुपाल को देख रहा था कि वह अब क्या करना चाहता है। उसकी दृष्टि बार-बार दुर्योधन, शकुनी और दुःशासन की ओर उठ रही थी। मैंने यह अनुभव किया कि शकुनी आंख के संकेत से शिशुपाल को कुछ कह रहा है। शिशुपाल उस संकेत को समझ नहीं रहा था। पूजा निर्विघ्न समाप्त हो गयी।

: ६ :

पूजा हो चुकी तो शिशुपाल पुनः अपने आसन से उठा और कहने लगा, "कुल को कलंकित करने वाले भीष्म! तुम यह अवतारों की कथा बताकर हमको व्यर्थ में भयभीत कर रहे हो।

"तुम स्वयं नपुंसक हो और सबको धोखा देने के लिये बाल-ब्रह्मचारी होने का ढोंग कर रहे हो। तुम नपुंसक और मति-भ्रष्ट के पीछे लगकर ये कौरव भी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं।

"हे भीष्म! तुमको अपने ज्ञानी होने का बड़ा घमण्ड है, परन्तु तुम वास्तव में मूर्ख हो। इस केशव की स्तुति करते समय तुम्हारी जिह्वा के सौ टुकड़े क्यों नहीं हो गये?

"तुम धूर्त, धोखेबाज और वास्तव में बड़ी आयु के कारण बुद्धि खो चुके हो। तुमने यह अनर्थ किया है।"

इस पर भीम को क्रोध चढ़ आया और उसने शिशुपाल को युद्ध के लिये ललकारा। वह आगे बढ़कर शिशुपाल को गले से पकड़कर मार डालना चाहता था कि भीष्म ने हाथ के संकेत से उसको रोकते

हुए कहा, "भीम ! यह तुम्हारे घर में अतिथि है। अतिथि की हत्या करना ठीक नहीं।"

इस पर भीम पीछे हट गया, परन्तु शिशुपाल इससे और भी उत्साहित हो भीष्म तथा कृष्ण को युद्ध के लिये चुनौती देने लगा।

भीष्म ने इस चनौती का यह उत्तर दिया, "शिशुपाल ! मैं तुमको अपने सम्मुख किसी प्रकार भी युद्ध के योग्य नहीं समझता। मेरी तुमको यह सम्मति है कि तुम यहां से चले जाओ। कहीं ऐसा न हो कि तुम इस यज्ञ में आहुति बन जाओ।"

इस पर शिशुपाल ने कृष्ण को गाली देनी आरम्भ कर दी। वह कहने लगा, "ओ अहीर के पुत्र ! चोरी-चोरी से पालन किये गये ग्वाले···"

इस समय कृष्ण पाँव के अंगूठे से अपने सिंहासन के सामने लकीरें खींचने लगा। उपस्थित लोग कृष्ण को चुप देख विस्मय कर रहे थे। कुछ तो, जो कृष्ण के स्वभाव ले परिचित थे, इस चुप रहने का अर्थ शिशुपाल के लिये अशुभ मानते थे। कुछ अनुभवहीन इसमें कृष्ण की दुर्बलता मान रहे थे। वे विचार कर रहे थे कि कृष्ण भीरु है जो इस प्रकार गालियां सुनकर भी पांव के अंगूठे से भूमि कुरेद रहा है।

शिशुपाल कह रहा था, "ओ कृष्ण ! रुक्मिणी का विवाह मुझसे होने वाला था, वह मेरी दत्तक थी। उसको अपनी पत्नी बनाते हुए तुमको लज्जा नहीं आयी। तुम लज्जाहीन हो। तुम दूसरे की पत्नी को घर पर रखे हुए हो।"

इस पर तो बहुत से राजाओं-महाराजाओं को भी क्रोध चढ़ आया। पुरुषों की इस सभा में स्त्रियों का अपमान असह्य हो उठा था। नर-साधारण भी जो सभा में आये हुए थे, त्राहि-त्राहि करने लगे।

इस समय कृष्ण अपने आसन से उठा और कहने लगा, "सभ्यगण ! यह बात मेरी बूआ, शिशुपाल की माता और मेरे भीतर की है कि इस दुष्टात्मा के सौ अपराध क्षमा करूंगा। मैं अभी इसके अपराधों की गणना कर रहा था। यह अन्तिम बात एक सौ से ऊपर हो गयी है, अब यह बच नहीं सकता।

"शिशुपाल सावधान !" इतना कह श्रीकृष्ण ने अपना सुदर्शन चक्र निकाला और चला दिया। सुदर्शन चक्र के चलते ही यज्ञमंडप ऐसे

प्रकाशमान हो गया मानो कोई सूर्य का खण्ड वहां पर आ गया हो। पूर्व इसके कि निशुपाल समझे कि क्या हो रहा है और अगली गाली उसके मुख में ही थी कि उसका सिर धड से पृथक् होकर भूमि पर गिर पड़ा।

जन-साधारण ने साधु-साधु के घोष से श्रीकृष्ण की घोषणा की। मैं समझ रहा था कि दुर्योधन, शकुनी, दुःशासन आदि शिशुपाल की हत्या होते देख हल्ला करेंगे। परन्तु वे सब आंखें नीची किये बैठे रहे। अन्य राजा-महाराजा भी शान्त तथा प्रसन्नचित बैठे रहे।

शिशुपाल का शव जहां वह ठहरा हुआ था, पहुंचा दिया गया और यज्ञ का कार्य आरम्भ हो गया।

यथासमय यज्ञ निर्विघ्न रूप में समाप्त हुआ। अभ्यागत विदा होने लगे। युधिष्ठिर ने अपना पूर्ण धन साधु-सन्तों और याचकों में बांट दिया। जो-जो भी कुछ मांगने के लिये आया झोली भर-भर कर ले गया। इस कार्य के लिये विदुरजी नियुक्त थे। राजा-महाराजाओं को भी स्मृति के रूप में युधिष्ठिर ने कई बहुमूल्य पदार्थ भेंट किये।

जाने वालों में कौरव अभी भी टिके थे। यज्ञ सम्पूर्ण होने की प्रसन्नता में परिवार के दोनों अंगों में नित्य मनोविनोद के नये-नये आयोजन होते थे। कभी सब वन में आखेट के लिये जाते, कभी यमुना में जल-विहार के लिये जाते, कभी खेल होते और कभी मल्ल-युद्ध।

ऐसा प्रतीत हो रहा था कि परिवार के दोनों अंग ऐसे घुल-मिल गये हैं मानो वैमनस्य में कोई कारण नहीं रहा था। युधिष्ठिर का सभा-भवन अति विशाल और विचित्र था। इस भवन में नाना प्रकार की अद्भुत और विशाल वस्तुएं रखी गयी थीं। दुर्योधन आदि इस भवन में घूम-घूम कर आनन्द ले रहे थे।

एक दिन जब दुर्योधन एक आगार से दूसरे आगार में जा-जाकर उनकी शोभा देख रहा था, सामने एक द्वार खुला देख वह उसमें घुसने लगा तो उसका माथा दीवार के साथ टकरा गया। यह तो द्वार का दीवार पर चित्र-मात्र था। पीछे से द्रौपदी अन्य स्त्रियों के साथ आ रही थी। वह दुर्योधन को दीवार से टकराते देख खिलखिला कर हंस पड़ी। अन्य स्त्रियां भी हँसने लगीं।

दुर्योधन लज्जित हो दूसरी ओर चल पड़ा। वहां वह एक सुन्दर स्फटिक फर्श पर जा रहा था। उस आगार के मध्य में एक बावड़ी थी, परन्तु वह भी शुष्क भूमि ही दिखाई देती थी। दुर्योधन निस्संकोच चलता गया और उस बावड़ी में कमर तक जल में निमग्न हो गया। इस पर तो द्रौपदी के मुख से निकल गया, "अन्धे की संतान भी अन्धी ही रही।"

स्त्रियों की पूर्व हँसी से चिढ़ा हुआ दुर्योधन इस कटाक्ष से तो जल-भुन गया। इस पर भी वह अपनी लज्जा की बात को मन ही मन में रखकर बोला, "भाभी ! अन्धा तो नहीं हूं। अपनी सुन्दर भाभी को देख रहा हूं।"

इसके पश्चात् कौरवों ने जाने का निश्चय कर लिया। जाते समय कौरवों ने धृतराष्ट्र और भीष्म के सम्मुख ही युधिष्ठिर से प्रस्ताव कर दिया, "दादा ! हम तुम्हारे घर में इतने दिन रहे हैं। अब कुछ दिन तुमको भी अपने भाइयों के साथ हमारा आतिथ्य स्वीकार करना चाहिए।"

"निस्सन्देह ! समय मिलते ही हम आयेंगे। आकर महाराज तथा महारानी से आशीर्वाद प्राप्त करेंगे।"

कौरव गये तो महर्षि द्वैपायनजी भी जाने के लिए तैयार हो गये। जाते हुए उन्होंने गम्भीर होकर कहा, "युधिष्ठिर ! यज्ञ-भूमि में शिशुपाल का वध किसी प्रकार भी शुभ नहीं हुआ।

"मुझे तो इसका परिणाम एक भयंकर युद्ध दिखाई देता है। परन्तु हम इसमें कुछ नहीं कर सकते। जो कुछ हो सकता है, वह केवल अपने व्यवहार को सम रखना ही है। समता में ही कल्याण निहित है।"

: १० :

हस्तिनापुर लौट आने के कुछ ही दिन पश्चात् यह समाचार मिला कि दुर्योधन का स्वास्थ्य बिगड़ रहा है। विदुरजी उसको देखने गये तो समाचार लाये कि द्वेष और ईर्ष्या की अग्नि में जलते हुए दुर्योधन क्षीण होता जा रहा है। वह पांडवों का वैभव देखकर आया है। अपने को वैसा वैभव प्राप्य न देख उसे डाह हो रहा है।

अगले दिन मैं महाराज धृतराष्ट्र से मिलने के लिए गया और जब मैंने दुर्योधन के स्वास्थ्य के विषय में पूछा तो महाराज ने बताया, "संजयजी ! शरीर में कोई कष्ट हो तो चिकित्सा हो भी सकती है। परन्तु जब मन ही रुग्ण हो तो क्या किया जा सकता है ?"

"महाराज !" मैंने कहा, "मानसिक रोगी की चिकित्सा तो धर्म-विवेक का उपदेश है। किसी साधु-सन्त महात्मा को, इस कार्य के लिए नियुक्त कर दीजिये।"

"मैंने विदुरजी से कहा है कि वे ही उसको उपदेश देने के योग्य हैं। अतः वे कल गये थे। कदाचित् आज भी जायेंगे। मेरा उनसे कहना है कि वे नित्य उससे मिलने जाया करें। मैं आशा करता हूं वह उनके उपदेशों से पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर लेगा।"

मैं अभी वहां बैठा ही था कि दुर्योधन का एक छोटा भाई, वातवेग महाराज के पास आया और दुर्योधन के विषय में बताने लगा, "महा-राज ! आपने हमको युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विरोध करने से मना करते हुए, एक वचन दिया था।"

"क्या वचन दिया था ?" धृतराष्ट्र ने मुख पर चिन्ता प्रकट करते हुए कहा।"

"शकुनी मामा ने आपसे कहा था कि धन-बल से प्राप्त वैभव बुद्धि से छीना जा सकता है। इस पर आपने कहा कि यदि हम में बुद्धि है, तो हम युधिष्ठिर का वैभव छीन सकते हैं।"

"तो तुम्हारे पास वह बुद्धि आ गयी है ?"

"तात् ! मेरे पास नहीं, परन्तु मामा शकुनी के पास वह बुद्धि है। आप यदि स्वीकृति दें तो वह उस बुद्धिबल से पांडवों का वैभव हर सकते हैं।"

धृतराष्ट्र और मैं भी, वातवेग की बात समझ नहीं सके। मैंने कह दिया, "वातवेग ! कुछ व्याख्या से कहो तो कुछ समझ में आये।"

"तात् ! महाराज मेरी बात को समझ रहे हैं। केवल मुझको टालने के लिये इस प्रकार की अनभिज्ञता प्रकट कर रहे हैं।"

"देखो बेटा ! मैं बूढ़ा हो गया हूं। मुझे बहुत-सी बातें भूलने लगी है। तुम स्मरण करा दो।"

"महाराज ! आप जानते हैं कि शकुनी मामा द्यूत-क्रीड़ा में सिद्ध-हस्त हैं । मामा अपनी इस कला से इन्द्रप्रस्थ का वैभव हस्तिनापुर में ले आना चाहते हैं ।"

"तो तुम्हारा अभिप्राय है कि जो तुम लोग बल और बुद्धि से प्राप्त नहीं कर सके, वह छल-कपट से प्राप्त करना चाहते हो ?"

"द्यूत-क्रीड़ा छल-कपट कैसे हो गयी महाराज ! यह तो कौशल है, जो मामा को आता है ।

"देखिये महाराज ! मजदूर दिन-भर परिश्रम करता है और बनिया उसको दो मुट्ठी अनाज देकर उसकी दिन-भर की कमाई छीन लेता है । इसको आप छल कहेंगे क्या ?

"प्रजा-गण दिन-भर परिश्रम से धन पैदा करते हैं और हम अपनी चतुराई से उनसे बहुत कुछ ले लेते हैं ।

"इसी प्रकार महाराज ! यह द्यूत-क्रीड़ा भी है । यह कला है । इसका अपना ढंग है । आदि काल से इसका प्रयोग मनोविनोद के लिये हो रहा है । तनिक दादा को भी कर लेने दें ।"

धृतराष्ट्र शान्त बैठा रहा । मुझे वातवेग का उक्त कथन राज-कुमारों की दोषपूर्ण शिक्षा का परिणाम ही प्रतीत होता था । धृतराष्ट्र का चुप रहना भी मुझको कुछ ऐसा समझ आया कि वह वातवेग के साथ सहमत नहीं, परन्तु अपने पुत्रों के साथ मोह के कारण उनकी बात का खण्डन नहीं कर सकते ।

मैंने इस विषय को वहीं दबा देने के लिये कह दिया, "देखो वातवेग ! तुम एक अनर्गल युक्ति कर रहे हो । एक ओर से तो इन्द्र-प्रस्थ का पूर्ण वैभव हस्तिनापुर में लाना चाहते हो, दूसरी ओर से मनोविनोद की बात कहते हो । ये दोनों बातें परस्पर सामञ्जस्य नहीं रखतीं । मनोविनोद में राज्यों के वैभव छीने नहीं जा सकते ।

"फिर तुम एक ओर द्यूत-क्रीड़ा कहते हो और दूसरी ओर मामा के कौशल की बात कहते हो । द्यूत-क्रीड़ा में ऐसा कौशल जो निश्चित फल उत्पन्न करे, छल कहलाता है । द्यूत-क्रीड़ा में विशेष बात उसके फल का अनिश्चित होना होता है । इसी में विनोद होता है । जब तुम यह कहते हो कि तुम्हारे मामा यह कौशल जानते हैं कि इन्द्रप्रस्थ को

लूट कर कैसे हस्तिनापुर में लाया जाये तो यह द्यूत-क्रीड़ा नहीं अवश्य ही छल-कपट है।"

इस समय धृतराष्ट्र ने मेरे किये-कराये पर पानी डाल दिया। उसने कह दिया, "मैं मनोविनोद के लिये स्वकृति देता हूं।"

वातवेग ने अपने षड्यन्त्र में प्रथम विजय प्राप्त कर ली। मैं महाराज को समझाना ही चाहता था कि वातवेग उठ पड़ा और उसने जाने से पूर्व कह दिया, "बस इतना ही हम चाहते हैं। महाराज! दादा रुग्ण हैं। इससे मन बहलाव हो जायेगा। भला द्यूत-क्रीड़ा से क्या युधिष्ठिर का समस्त धन जीता जा सकता है। वह अतुल है महाराज!"

उस दिन जब मैं धृतराष्ट्र के गृह से लौटा तो मुझको पूर्ण षड्-यन्त्र का आभास हो गया। वातवेग के यह कहने पर कि शकुनी को महाराज ने पहले ही स्वीकृति दे रखी है, मुझको समझ में आ गया कि क्यों दुर्योधन, कर्ण आदि युधिष्ठिर के यज्ञ में बाधा नहीं बने। मुझे ऐसा भी समझ आया कि शकुनी यज्ञ से पहले शिशुपाल से मिलने के लिये गया था। वह भी षड्यन्त्र का एक अंग था। शिशुपाल ने भीष्म जी को भी गालियां देनी आरम्भ की थीं तो शकुनी के उकसाने पर ही दी होंगी। मुझे शिशुपाल का उस समय, बार-बार दुर्योधन और शकुनी की ओर देखना स्मरण आ रहा था। मुझको यह भी स्मरण था कि शकुनी उस समय शिशुपाल को अपनी आंख से कुछ संकेत कर रहा था जिसको शिशुपाल समझ न पाया था। इसका अर्थ कुछ ऐसा समझ आया कि आरम्भ में तो कुछ योजना ऐसी थी कि यज्ञ में हुल्लड़ मचाकर उसको असफल कर दिया जाये। परन्तु वहां का वातावरण देखकर शकुनी आदि ने यह योजना बदल दी थी। शिशुपाल समझा नहीं और पूर्व योजना के अनुसार ही चलता रहा, जिसके कारण वह मारा गया।

यह शकुनी की परिवर्तित योजना थी। मैंने इन्द्रप्रस्थ में ही द्रौपदी के कटाक्ष की बात सुनी थी। अब मैं विचार कर रहा था कि वर्तमान ईर्ष्या-द्वेष उस कटाक्ष का परिणाम था अथवा यह भी पूर्व विचार की हुई योजना था। मैं उस दिन की धृतराष्ट्र की बात सुनकर इतना तो

समझ गया कि यह द्यूत-क्रीड़ा पहले ही विचार की हुई बात थी। दुर्योधन का रुग्ण होकर लेट रहना भी उसी योजना का अंग था।

मैं इन्हीं विचारों और कल्पनाओं में विदुरजी के घर जा पहुंचा। वहां पर दुर्योधन का रथ खड़ा देखकर चकित रह गया। मैं यह समझा कि किसी प्रकार की गोष्ठी हो रही है। मैं वहां से लौटने ही वाला था कि विदुरजी ने मुझको देख लिया। उन्होंने अपनी पत्नी को संकेत कर मुझको भीतर बुला लिया। दुर्योधन यह तो जानता था कि मैं उसके किसी कार्य का भी समर्थन नहीं करता, परन्तु आज वह विदुर-जी को प्रसन्न करने के लिये आया हुआ था। अतः उसने मुझको भीतर बुला लेने पर कोई आपत्ति नहीं की।

दुर्योधन ने मुझको नमस्कार किया तो मैंने आशीर्वाद दे दिया। इस पर विदुरजी ने दुर्योधन की इच्छा प्रकट कर दी। विदुरजी ने बताया, "दुर्योधन कहता है कि वास्तव में तो सम्राट-पद महाराज धृतराष्ट्र का ही है। इस कारण जो कुछ युधिष्ठिर को यज्ञ आदि में प्राप्त हुआ है, महाराज का ही है। कम से कम दशांश तो महाराज को मिलना चाहिये। युधिष्ठिर वह दे नहीं रहा, अतः एक ढंग से युधिष्ठिर को देने के लिये विवश करना चाहिए। वह ढंग, दुर्योधन जुआ खेलना बता रहा है।

"मैंने इसको इस कुकर्म से मना किया है। मेरा कहना है कि इसको नल दमयन्ती की कथा संस्मरण कर लेनी चाहिये। परन्तु यह हठ कर रहा है। संजयजी, इसको आप ही कुछ समझाइये।"

इस पर दुर्योधन बताने लगा, "कृपाचार्य का कहना है कि कुबेर के कोष में भी इतना कुछ नहीं है, जो युधिष्ठिर को प्राप्त हुआ है। तात्! विदुरजी को रत्नादि बांटने पर लगाया गया था और वे मुट्ठी भर-भर याचकों को देते-देते थक गये। परन्तु वे रत्नादि समाप्त नहीं हुए।

"मुझको हाथी, घोड़े, ऊंट और अन्य इसी प्रकार की भेंट का लेखा-जोखा रखने के लिये कहा गया था। इन सबको रखने के लिये सभा-भवन की शालायें भर गयीं तो कई अस्थायी शालायें भवन के बाहर बनवानी पड़ी थीं।"

"सोना, चांदी, ऊनी और रेशमी वस्त्र तो अमित बांटे जाने पर भी उनके वहां अभी अम्बार लगे थे।

"तात् ! जहां पक्षी तक नहीं फड़क सकते, वहां पर भी अर्जुन के शंख का नाद पहुंचा है। इतना धन-वैभव यह शौर्य का परिणाम है ? मैं तो यह समझा हूं कि कृष्ण की ही चतुराई से भू-मण्डल पर एक आतंक उत्पन्न कर के यह सब कुछ प्राप्त किया गया है। इस चतुराई की काट हम चतुराई से ही करना चाहते हैं।"

इस पर मैं जो मार्ग में कल्पना करता आया था और उससे जो संशय मेरे मन-पटल पर उत्पन्न हुआ था, पुनः उभर आया। उसके निवारण के लिये मैंने पूछ लिया, "राजा दुर्योधन ! क्या सच है कि राजसूय-यज्ञ होने से पहले ही और अर्जुनादिक के विश्वविजय के जाने से पूर्व ही, तुम और शकुनी में यह षड्यन्त्र बन चुका था कि युधिष्ठिर को अभी पृथ्वी विजय कर लेने दी जाए और फिर यज्ञ में गड़बड़ कर सब कुछ लूट लिया जाए ?"

मेरे इस बात के कहने से दुर्योधन का मुख पीला पड़ गया। इस पर भी उसने विस्मय प्रकट करते हुए कहा, "तात् ! किसने बताया है आपको यह ?"

"किसी ने बताया हो ? यह सत्य नहीं है क्या ?"

"तात् ! हमको विश्वास है कि पांडव यश और वैभव पाकर कुछ ऐसी मूर्खता कर बैठेंगे जिस पर सब राजा-गण बुरा मान जायेंगे। तब हमारा समय होगा। हम इन्द्रप्रस्थ में ही भू-मण्डल की सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर लेंगे।

"पांडवों ने कृष्ण को सभापति बना कर मूर्खता तो की, परन्तु उससे अधिक मूर्खता हमारे पितामह ने कर दी। वे भी कृष्ण की प्रशंसा करने लगे। यहां तक कि उन्होंने श्रीकृष्ण को नरसिंह, वामन और राम की उपाधि तक दे दी। साथ ही उस समय का युधिष्ठिर का वैभव देख कर सब राजा इतने आतंकित हो चुके थे कि भीष्म की बात का खण्डन करने में किसी का साहस नहीं हुआ।

"भीम लड़ने के लिये आया था। वह यह मूर्खता करने लगा था। भीम के शिशुपाल पर आक्रमण करने से राजाओं की मनोवृत्ति बदल

जाती, परन्तु पितामह ने उसको भी मूर्खता करने से मना कर दिया।

"इसके साथ शिशुपाल ने भी एक मूर्खता की। जहां कृष्ण को गालियां दीं वहां पितामह की भी निन्दा कर दी। परिणाम यह हुआ कि एक भी राजा हमारे पक्ष में नहीं रहा। कृष्ण ने जब देखा कि वह सबसे तिरस्कृत हो गया है तो उसकी हत्या कर दी। उस समय और उस परिस्थिति में हम उसकी सहायता नहीं कर सकते थे।"

"क्या यह ठीक नहीं कि शकुनि ने तुमको पहले ही कह रखा था कि युधिष्ठिर का पूर्ण धन वैभव जुए से जीत लिया जाये?"

"तो इसमें क्या शकुनि का कोई दोष है? जुआ एक पक्ष के कहने पर तो खेला नहीं जाता। इसके खेलने के लिये दो पक्ष होते हैं। दूसरा पक्ष युधिष्ठिर होने वाला है। यदि वह इसके खेलने को नापसन्द नहीं करता तो दूसरे इसमें क्यों हस्तक्षेप करें।"

यह युक्ति भी अधिक प्रबल थी। मैं भी मन में विचार करता था कि यदि युधिष्ठिर अपने धन-वैभव को देखकर पागल हो रहा है तो उसका फल उसको ही भोगना होगा। समझने की बात युधिष्ठिर की है।

मैं यह विचार कर, चुप कर रहा। विदुरजी भी कुछ कह नहीं सके। दुर्योधन की युक्ति ने एक अन्तिम आघात कर दिया। उसने कहा, "तात्! इस समय युधिष्ठिर का भाग्य प्रबल है। उसको अपने भाग्य पर कितना भरोसा करना चाहिए यह उसके विचार करने की बात है। मैं तो इस समय दीन-हीन अवस्था में हूं और सागर में डूबते हुए की भांति हाथ-पांव मार रहा हूं। यदि वह भू-मण्डल की सम्पत्ति पाकर भी सन्तोष नहीं करता और मुझ-जैसे निर्धन की कुछ सम्पत्ति जुए से छीनने के लिए आता है, तो तात्! आपकी शिक्षा और उपदेश की आवश्यकता उसको है, न कि मुझको। जाइये और आप उसको समझाइये कि वह अपनी अतुल सम्पत्ति पर ही संतोष करे और जुआ खेलने के लिए न आए।"

विदुरजी ने कह दिया, "जब महाराज मुझको आज्ञा देंगे तो मैं आपका निमन्त्रण लेकर चला जाऊंगा।"

मुझको युधिष्ठिर की द्यूत-क्रीड़ा के सम्बन्ध में दुर्बलता का ज्ञान था। बचपन में भी दुर्योधन उससे जुआ खेलकर उसको ठग लिया करता था। इस पर भी वह आह्वान किये जाने पर सदा खेलने के लिए तैयार रहता था।

युधिष्ठिर की इस दुर्बलता का लाभ उठाने के लिये शकुनी की यह योजना थी। इस अवस्था में एक ओर तो युधिष्ठिर को सचेत कर उसको इस कार्य से मना करने की बात थी। दूसरी ओर धृतराष्ट्र को इस कार्य की स्वीकृति देने से मना करना था। मैंने इस नवीन परिस्थिति और दुर्योधन की यज्ञ में विघ्न डालने की स्वीकृति का पूर्ण वृत्तान्त देवेन्द्र को लिख दिया।

विदुरजी का विचार था कि युधिष्ठिर जुआ खेलने से न कर देगा। मैंने जब विदुरजी से कहा कि उनको दुर्योधन का सन्देश लेकर नहीं जाना चाहिए तो वह कहने लगे, "मैं न जाऊंगा, तो कोई अन्य चला जायेगा। यदि मैं जाऊंगा तो युधिष्ठिर को पूर्ण परिस्थिति से अवगत करा सकूंगा।"

विदुरजी का यह विचार मुझको पसन्द आया। इस पर भी मेरा मन कहता था कि युधिष्ठिर अवश्य आयेगा। धृतराष्ट्र के द्यूत-क्रीड़ा की स्वीकृति देते ही दुर्योधन स्वस्थ हो राज्य का कार्य करने लगा। इससे मेरे विचार का समर्थन हुआ कि बीमार होना केवल बहाना था।

जब विदुरजी को धृतराष्ट्र ने इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा दी तो उन्होंने उनको समझाया कि दुर्योधन की नीयत ख़राब है। इसका फल अच्छा नहीं होगा, परन्तु धृतराष्ट्र ने इस बात का आश्वासन दे दिया कि यदि कोई अनियमित बात होगी तो वह रोकेगा।

विदुरजी ने इन्द्रप्रस्थ जाते समय मुझको बताया कि, "निमन्त्रण पत्र में यह नहीं लिखा गया कि जुआ खेलने की तैयारी हो रही है। केवल कुछ दिन यहां आकर व्यतीत करने की बात लिखी गयी है।"

इस अवस्था में हम दोनों का विचार था कि विदुरजी को इस कार्य के लिये भेजा जाना ही उचित है।

विदुरजी के जाने के एक दिन पश्चात् ही देवेन्द्र से मेरे पत्र का

उत्तर आ गया। देवेन्द्र का आदेश था कि इस जुआ खेलने में बाधा न डाली जाये।

देवेन्द्र का विचार था कि शकुनि अवश्य छल करेगा और पकड़ा जायेगा। पकड़े जाने पर भीम शकुनि को मार डालेगा। इस प्रकार कौरवों के राज्य का एक और स्तम्भ गिर जायेगा। कंस, जरासंध, शिशुपाल और अब शकुनी की वारी है।

इन्द्र का लिखना था कि कौरवों का विनाश निश्चित है। इस विनाश को प्रजा की हत्या के बिना ही सम्पन्न किया जा सके तो और भी ठीक है। शकुनी को मार देना इसमें उपाय हो सकता है।

अपने साथियों के निःशेष हो जाने पर कौरव स्वयं दुर्बल हो जायेंगे। वे अपना सिर नहीं उठा सकेंगे। ऐसा होने पर राज्य बच्चों अथवा विधवाओं के हाथ चला जायेगा। पांडवों की चलेगी और सहस्रों वर्ष तक भारत सुख-शान्ति का भोग करेगा।

देवेन्द्र की इस सूचना के आधार पर मेरे लिये करने को कुछ नहीं रहा। मैं इस जुए को रोकने का विचार छोड़ बैठा। इस पर भी मेरे मन में चंचलता थी। मुझको किसी अज्ञात भय की आशंका हो रही थी। जुआ खेलना एक अच्छा कार्य नहीं था। मुझको युधिष्ठिर की इस विषय में दुर्बलता का ज्ञान था।

मैं विचार करता था कि यदि युधिष्ठिर यहां आ गया तो कौरव उसको अवश्य ही जुआ खेलने पर राजी कर लेंगे। यदि एक बार युधिष्ठिर हारने लगा तो वह अपना सर्वनाश किये बिना छोड़ेगा नहीं।

इन्द्र का कहना था कि शकुनी छल करेगा और पकड़ा जायेगा। मैं विचार करता था कि यदि वह न पकड़ा गया तो उसको पकड़ने वाला कोई चतुर होना चाहिए। यह युधिष्ठिर अथवा कोई अन्य पांडव नहीं हो सकता।

इस समय मुझको श्रीकृष्ण की याद आ गयी। मेरे मन में आया कि कृष्ण को यहां लाना चाहिये। कृष्ण या तो इस द्यूत-क्रीड़ा को होने ही नहीं देगा और यदि हुई तो उसमें धोखा अथवा छल होने नहीं देगा।

उसी दिन मैं एक वेगगामी रथ पर सवार होकर द्वारिका की ओर चल पड़ा।

द्वारिका हस्तिनापुर से बहुत दूर है और मैं यह विचार कर कि कहीं कृष्ण देरी से पहुंचे तो सब कुछ चौपट हो सकता है, घोड़े बदलता हुआ दिन-रात चलता गया।

मैं द्वारिका पहुंचा तो यह जानकर मुझको बहुत निराशा हुई कि कृष्ण वहां पर नहीं हैं। वह शाल्व के साथ युद्ध पर गये हुए थे। द्वारिका में यह समाचार था कि शाल्व की सेना पीछे हट रही है और कृष्ण दो-चार दिन में ही विजयी होकर लौटने वाले हैं।

विवश हो मुझको वहां पर प्रतीक्षा करनी पड़ी। कृष्ण को समर से लौटने में एक सप्ताह से ऊपर लग गया। जब वह आये तो मैं अविलम्ब उनसे मिलने के लिए गया। मैंने, जब अपने वहां आने का प्रयोजन बताया तो वह भी घबरा उठे। युद्ध के पश्चात् उनकी राज्य-परिषद् होने वाली थी। यद्यपि सब परिषद् सदस्य चाहते थे कि वह उसमें भाग ले, परन्तु कृष्ण ने एक पल भी ठहरना उचित न मान, हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

दुर्भाग्य ने अभी हमको नहीं छोड़ा था। मार्ग में यादवों और नटों के झगड़े के कारण, हमको अपना मार्ग बदलना पड़ा। इससे और भी देरी लग गयी।

इस प्रकार हस्तिनापुर में वापस लौटने में हमें तीन सप्ताह लग गये। हमारे पहुंचने से पहले ही सब कुछ चौपट हो चुका था। द्वारपाल से पता कर कि पांडव प्रासाद के किस कक्ष में ठहरे हैं, मैं कृष्ण को लेकर वहां ही चल दिया। हम अभी ड्योढ़ी में ही पहुंचे थे कि उस कक्ष से आर्तनाद सुनाई दिया। हम एक-दूसरे का मुख देखने लगे। प्रतिहार ने आंसू भर कर कहा, "महाराज, पांडव सब-कुछ हारने के बाद महारानी द्रोपदी को भी हार चुके हैं। अतः दुःशासन महारानी जी को भरी सभा में ले जाना चाहता है। पर महारानी जी जाना नहीं चाहतीं।"

प्रतिहार अभी बता ही रहा था कि दुःशासन द्रौपदी को बालों से पकड़कर घसीटता हुआ बाहर ले आया और सभाभवन की ओर

ले चला।

कृष्ण की आंखें क्रोध से लाल हो रही थीं। उनका पूर्ण शरीर आवेग से कांप रहा था। द्रौपदी की दृष्टि कृष्ण पर पड़ गयी और वह "हे भैया कृष्ण! हे भैया कृष्ण!!" कहकर पुकारने लगी।

मैं कृष्ण के मुख पर देख रहा था। कृष्ण ने गम्भीर होकर कहा, "संजयजी! हम देरी से पहुंचे हैं। इस पर भी हम देखेंगे कि क्या कर सकते हैं।"

हम उधर ही चल पड़े जिधर द्रौपदी ले जाई जा रही थी। सभाभवन में द्रौपदी को ले जाकर खड़ा कर दिया गया। वहां उच्च आसनों पर धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य आदि बैठे थे। सभाभवन के बीच भूमि पर दुर्योधन, शकुनी और दुर्योधन के कुछ भाई एक ओर बैठे थे और दूसरी ओर पांच पांडव थे। उनमें सबसे आगे युधिष्ठिर था। उसके पीछे चारों भाई सिर झुकाये बैठे थे।

द्रौपदी की ओर देखते हुए दुर्योधन कह रहा था—'हे भाभी! तुमने एक बार मुझको अन्धे का पुत्र अन्धा कहकर सम्बोधित किया था। अतः मैं आज्ञा देता हूं कि इन अन्धों की सभा में तुमको नग्न कर दिया जाये। क्यों, क्या आपत्ति है?"

दुर्योधन का संकेत पा दुःशासन ने द्रौपदी का वस्त्र खेंच उतारना चाहा। द्रौपदी अपनी लाज बचाने के लिये उस समय वस्त्र को बलपूर्वक पकड़ रही थी।

मैंने भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य की ओर देखा। वे सब आंखें झुकाये हुए बैठे थे। दुर्योधन के भाई हँसते हुए उत्सुकता से द्रौपदी की ओर देख रहे थे। इस समय एक अद्भुत घटना घटी। कृष्ण ने अपने स्थान पर खड़े-खड़े ही चुप-चाप, उंगली के संकेत से दुःशासन को साड़ी खेंचने से मना किया। साड़ी खिचनी बंद हो गयी।

दुःशासन खेंच रहा था, पर ऐसा प्रतीत होता था कि उसके हाथों में एक बाल जितना भी बल नहीं रहा।

दुर्योधन ने ऊंचे स्वर में कहा, "इस वेश्या को नग्न कर यहीं सभा में नचाओ।"

दुःशासन ने पुनः साड़ी खींचने का यत्न किया, परन्तु वस्त्र खिच

नहीं सका। अन्त में उसने साड़ी छोड़ दी और विवश हो दुर्योधन की ओर देखने लगा। कोई भी इस रहस्य को समझ नहीं सका। सब ने यही समझा कि दुःशासन ने दुर्योधन की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया है। परन्तु मुझको समझ आया कि कृष्ण ने अपने योगेश्वर रूप का प्रदर्शन किया है।

इस समय कृष्ण ने भीष्मजी की ओर देखा और कहा, "पितामह ! क्या तुम्हारा ब्रह्मचर्य व्रत इस प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करने के लिये था ?"

कृष्ण की आवाज सुन वृद्ध-जनों ने सुख का सांस लिया और आंखें खोलकर देखा। इस समय द्रौपदी एक ही वस्त्र से सभा में खड़ी थरथर कांप रही थी।

एक ओर युधिष्ठिर और उसके भाई सिर झुकाये और आंखें मूंदे हुए थे। उनके सामने ही शकुनी विकराल मुख खोले हँस रहा था। दुर्योधन दुःशासन को, द्रौपदी की साड़ी छोड़ हाथ लटकाये खड़ा देख क्रोध में ताव खा रहा था। दुर्योधन के सब भाई जो सभा में उपस्थित थे, द्रौपदी को नग्न देखने के लिये व्याकुल प्रतीत होते थे।

जब श्रीकृष्ण ने भीष्म को सम्बोधित किया तो सबकी दृष्टि हम दोनों की ओर चली आई। कृष्ण को देख भीष्म को कुछ साहस हुआ। उसने कहा, "कृष्ण, यहां अनर्थ हो गया है। मैं यह नहीं समझ सका कि इसमें दोष किसका है ?"

इस पर दुर्योधन ने कहा, "पितामह ! यह बात तो आपके सम्मुख प्रत्यक्ष है कि युधिष्ठिर ने अपना सब कुछ हार कर द्रौपदी को भी हार दिया है। द्रौपदी हमारी दासी हो गयी है और आज हम इस नवीन दासी के अंग-प्रत्यंग का सौंदर्य देखना चाहते हैं।"

द्रौपदी कृष्ण को सामने खड़ा देख साहस बांध कर बोली, "दुष्ट, मैं इस समय रजस्वला हूं और तू मुझको नग्न करना चाहता है। यह ऐसा पाप होगा कि इन्द्रादि देवता भी तुमको उसके फल से बचा नहीं सकेंगे।"

"हा ! हा !!" कर दुर्योधन हँस पड़ा। हँसकर उसने कहा, "इन्द्र से भी अधिक बल से युक्त तुम्हारे पांचों पति मैंने अपने सामने बांध

रखे हैं। अब तुम्हारी सहायता कोई नहीं कर सकता।"

इस पर भीष्मजी ने कहा, "दुर्योधन ! एक अबला पर दया करो। प्रत्येक बात की सीमा होती है। सीमा में रहने वाला व्यक्ति कभी हानि नहीं उठाता।"

"पितामह ! यह भाभी मुझको अन्धे का पुत्र अन्धा कहती थी। अब इसको एक अन्धे के सामने नग्न होने में संकोच नहीं करना चाहिये।

"इस पर भी तात् ! यदि आप इसको इस अवस्था में नग्न करना उचित नहीं मानते तो मैं इसका स्वामी होने से आज्ञा देता हूं कि यह मेरी जांघ पर आकर बैठे। इससे मेरी संतप्त आत्मा को शांति प्राप्त होगी।"

इतना कह दुर्योधन ने अपनी जांघ नंगी कर दी।

इस पर द्रौपदी ने जो इस समय चित्त से स्थिर हो चुकी थी, बोली, "मुझसे एक भूल हो गयी है। मैंने सभा में आते ही कुल के वृद्धजनों को नमस्कार नहीं किया। अतः मैं अपनी भूल, जो मैं इस पापात्मा दु:शासन के अनाचार के कारण, कर बैठी हूं, के लिए क्षमा चाहती हूं।

"मैं एक बात जानना चाहती हूं कि क्या मैं अपने पतियों की धर्मानुकूल अर्द्धांगिनी हूं या दासी ?

"मैं तो पत्नी हूं। अग्नि के समक्ष मेरा पाणिग्रहण, विधि-विधान के ही अनुसार मेरे पतियों ने किया है। ऐसी अवस्था में मुझको मुझसे पूछे बिना, मेरे पति दांव पर कैसे लगा सकते थे ?"

इस प्रश्न पर तो सब चुप कर गये। दुर्योधन और शकुनी भी वितर-वितर मुख देखने लगे। उत्तर कर्ण ने दिया, "यह कुल की प्रथा है कि पत्नी पति की सम्पत्ति मानी जाती है। अतः पति उसको जुए में हार भी सकता है।"

इस पर द्रौपदी ने कहा, "मैं अपने प्रश्न का उत्तर धर्म के ज्ञाता, पितामह भीष्म से सुनना चाहती हूं। कुल-प्रथा और लोक-प्रथा व्यापक धर्म की विरोधी नहीं हो सकती।"

इस पर भीष्मजी ने कह दिया—

"बेटी ! धर्म की गति अति सूक्ष्म है। लोक में विज्ञ महात्मा भी उसको ठीक-ठीक नहीं जान सके। संसार में बलवान मनुष्य जिसको धर्म समझते हैं, विचार के समय लोग उसको ही धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष बलशाली से बताये धर्म के अधीन हो जाता है।[1]

"अत: द्रौपदी ! दुर्योधन और कर्ण जो कहते हैं वही धर्म है। मैं इस विषय में क्या मत दे सकता हूं।"

मैं भीष्मजी की यह बात सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। मैं यह कहने के लिये आगे बढ़ा कि हे भीम और अर्जुन ! तुम बलवान हो, इस कारण इन पापियों को मारकर अपनी इच्छा को चलाओ। जो कुछ भी तुम कर लो वही धर्म होगा। मैं उनको आह्वान करना चाहता था, परन्तु कृष्ण ने मुझको, हाथ पकड़ कर, आगे बढ़ने से रोक दिया। मैंने उनके मुख पर देखा तो होठों पर उंगली रख वे मुझे कहने से रोकने लगे। मैं चुप कर गया।

भीष्म ने दुर्योधन से कहा, "अपने परिवार की एक कुलीन नारी को इस प्रकार भरी सभा में अपमानित करना धर्म है क्या ? विचार लो कि क्या कर रहे हो ?"

इस पर दुर्योधन ने पुन: अपना दावा द्रौपदी पर दिखाते हुए कहा, "पितामह, स्वेच्छा से युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दांव पर लगाया था और हार गया है। इसमें तो दो वचन हो ही नहीं सकते कि द्रौपदी अब मेरी है। रही बात कुलीन की। वह कुलीन रही होगी, परन्तु जब से वह पांच पतियों की पत्नी बनी है तब से कुलीन नहीं रही। उसकी यदि कोई संज्ञा हो सकती है, तो वह वेश्या की है।

"अब मैं द्रौपदी को कहता हूं कि वह अपने पतियों से पूछ ले कि उन्होंने उसको दांव पर लगाया है अथवा नहीं।"

भीम ने खड़े होकर कहा, "पितामह ! हम चारों भाई तो पहले

---

१. ...कल्याणि ! धर्मस्य परमा गतिः।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः॥
बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः॥ महा०सभा०६९-१४

ही हारे जा चुके थे। अतः हम किस प्रकार किसी वस्तु को दांव पर लगा सकते थे। हारा हुआ व्यक्ति दूसरे का दास हो जाता है। वह अपनी स्वतंत्र मति नहीं रखता।"

"तब तो ठीक है।" दुर्योधन ने कह दिया, "अब प्रश्न केवल युधिष्ठिर का रह जाता है। मैं युधिष्ठिर से पूछता हूं कि क्या यह सत्य नहीं कि वह द्रौपदी को हारा है ?"

युधिष्ठिर घुटनों में सिर दिये अति लज्जित भाव से चुपचाप बैठा था। इस समय कृष्ण कुछ विदुर से कह रहे थे। मैं सुन नहीं सका। मेरे मन में इस पूर्ण समस्या का एक ही सुझाव था। वह यह कि अर्जुन और भीम ने जो कुछ द्रौपदी के स्वयंवर में कर दिखाया था, वह यहां भी किया जा सकता था। मैं मन-ही-मन विचार कर रहा था—किसी भांति पांडवों को यह सुझाव दूं कि इस सभा में आद्योपान्त अधर्माचरण हुआ है। वे इस सभा में हुई पूर्ण कार्यवाही को पाप घोषित कर वहां से उठ बलपूर्वक अपना मार्ग बना लें। यही भीष्मजी की धर्म की व्यवस्था भी है। परन्तु युधिष्ठिर केवल जुए में ही नहीं हारा था प्रत्युत मन में वह धर्म की मिथ्या मीमांसा के सामने परास्त हो चुका था।

शरीर मन के अधीन है। जब पांडवों के मन में यह बात बैठ गई कि हम हार गये तो शारीरिक बल उनको मुक्त नहीं कर सकता था। अतः मेरे कहने का क्या प्रभाव होता, कहना कठिन था। मैं चुप रहा।

जब दुर्योधन की बात का युधिष्ठिर ने उत्तर नहीं दिया और कौरव हँसते हुए पांडवों की खिल्ली उड़ाने लगे, तब विदुर ने आगे बढ़कर पितामह को सम्बोधित करके कहा, "तात् ! संसार आपको धर्म-मूर्ति मानता है, परन्तु मैं आपको और आपकी बुद्धि को आज कुण्ठित हुआ क्यों पाता हूं ? क्या इतना घोर अधर्म आप द्वारा विधाता करवा रहा है ? यदि ऐसा है तो कुरु-वंश के विनाश का विधाता ने आयोजन किया है। यह निश्चय ही जानिये !

"सुनिये महाराज। यह जो कुछ हुआ है, न केवल अधर्म है तथा पाप है, प्रत्युत अन्याय भी हो रहा है। यह अधर्म इस कारण है कि

किसी भी राज-सभा में स्त्रियों को नग्न कर दिखाया नहीं जाता।

"यह पाप इसलिए है कि द्यूत-क्रीड़ा पापमय आय कराने वाली है। क्योंकि वह आय जिसके प्रतिकार रूप में कुछ कार्य न किया जाये, वह पाप-युक्त होती है।

"यह अन्याय इस कारण है कि द्रौपदी को दांव पर लगाने वाला व्यक्ति स्वतंत्र नहीं था। युधिष्ठिर पहले अपनी पूर्ण सम्पत्ति को हारा, उसके पश्चात् अपने को हारा, पीछे अपने भाइयों को और अंत में अपनी पत्नी को।

"बताइये, जब एक व्यक्ति अपने को भी हार चुका हो तो उसका स्वतंत्र अस्तित्व कैसे रह सकता है! जो स्वयं स्वतंत्र नहीं, वह भला किसी अन्य स्वतंत्र व्यक्ति को दांव पर कैसे लगा सकता है?

"दुर्योधन को तो इस छल-कपट और अन्यायाचरण से लाभ होने वाला है। इस कारण वह तो इसको धर्म-संगत बतायेगा ही। विचार तो आपको करना है कि यह जो कुछ हो रहा है, किस प्रकार ठीक है?"

विदुरजी की यह युक्ति अकाट्य थी, परन्तु इस अन्यायाचरण से जिनको लाभ हो रहा था, वे कब मानने वाले थे। दुर्योधन ने भीष्म-जी के कुछ कहने से पहले ही कह दिया, "यह सब वाग्जाल है। हम इसको नहीं मानते।"

अतः भीष्मजी ने निर्णय दे दिया, जो दुर्योधन को भी हानि न पहुंचाये और युधिष्ठिर आदि भी छूट जाएं। उन्होंने कहा, "विदुर-जी का कहना ठीक है, जो कुछ हुआ है, वह सब धर्मानुकूल नहीं हुआ, मैं इतना मानता हूं। मैं यह भी मानता हूं कि द्यूत-क्रीड़ा नैतिकता से हीन कार्य है। इस पर भी यह लोक से मान्य है। लोक-धर्म के विचार से अमान्य नहीं और इस द्वारा अर्जित धन, अर्जन करने वाले का ही है।

"हां; विदुरजी का यह कहना विचारणीय है कि युधिष्ठिर अपने को हारने के पश्चात् क्या भाइयों और पत्नी को दांव पर लगा सकता था? वह तो स्वयं पराधीन हो चुका था।

"अतएव मेरा निर्णय है कि द्रौपदी और चारों भाई स्वतंत्र हैं, वे

हारे नहीं गये।"

इस पर विदुरजी ने कहा, "एक बात और है तात् ! धन-सम्पदा जो युधिष्ठिर की थी वह तो उसने हार दी, परन्तु एक राजा अपने राज्य को कैसे दांव पर लगा सकता है ! राज्य तो प्रजा का है। एक राजा कैसे अपनी प्रजा को बिना पूछे दूसरे राजा के अधीन कर सकता है ?

"यदि किसी को सन्देह हो कि इन्द्रप्रस्थ की प्रजा दुर्योधन का राज्य चाहती है अथवा अपने को दांव पर लगाना स्वीकार करती है तो मतगणना कराई जा सकती है।

"अतः मेरा निवेदन है कि इन्द्रप्रस्थ का राज्य युधिष्ठिर का ही रहे और वह वहां का राजा हो।"

"और मुझको क्या मिले ?" दुर्योधन ने आवेश में पूछ लिया।

"तुमको स्वर्ण, रत्न, घोड़े, रथ, वस्त्र, भूषण आदि सब कुछ, जो तुम राज्य और राजा को छोड़ जीत रहे हो, मिले।"

"नहीं ; यह हम नहीं मान सकते।"

इस पर भीष्मजी ने एक अन्य व्यवस्था दे दी। उन्होंने कहा, "मैं विदुरजी की युक्ति में बल देखता हूं और इससे यह कहता हूं कि युधिष्ठिर स्वतंत्र है, परन्तु राज्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके लिए मैं यह व्यवस्था देता हूं कि युधिष्ठिर बारह वर्ष तक वन में रहे। तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास करे। यदि तब इन्द्रप्रस्थ के लोग उनका राज्य चाहें तो राज्य युधिष्ठिर को दे दिया जाये।"

इस पर द्रोणाचार्य ने कह दिया, "पितामह का कथन धर्म और न्याययुक्त है। इसको हम मान्यता देते हैं।"

: १२ :

भीष्मजी की इस व्यवस्था से दुर्योधन प्रसन्न नहीं था। इस पर भी उसको कुछ ऐसा समझ आया था कि यह तेरह वर्ष की व्यवस्था एक सीमा तक लाभकारी हो सकती है। तेरह वर्ष में क्या हो जायेगा, कहना कठिन है। साथ ही उसके पश्चात् भी पुनः झगड़ा किया जा सकता है। अतः इसी समय झगड़ा करने में उसको भय था कि

कहीं पितामह इतनी बात भी पांडवों के पक्ष में न बदल दें। वह देख रहा था कि प्रत्येक युक्ति के पश्चात् भीष्मजी पांडवों की ओर लुढ़कते जाते हैं। अतः वह हाथ में से सबकुछ जाने की सम्भावना देख रहा था।

सभा विसर्जित हुई तो श्रीकृष्ण मुझको लेकर मेरे घर चले गए। वहां पहुंच कृष्ण ने कहा, "मुझको दुर्योधन पर इतना रोष नहीं. जितना पांडवों पर है। वे महामूर्ख हैं। उनको अब तक यह ज्ञान हो जाना चाहिए था कि दुर्योधन उनका महान शत्रु है। इस पर भी वे उसके घर पर आए और वहां पर जुआ खेलने लगे।

"मुझको यह विश्वाश है कि शकुनी ने उनके साथ किसी कपट के साथ खेल खेला है। परन्तु वे उसको छल करते हुए पकड़ नहीं सके। यह पांडवों का बुद्धूपन प्रकट करता है। वास्तव में सब दोष स्वयं युधिष्ठिर का ही है।

"इस पर भी विदुरजी ने, मेरे तनिक से संकेत पर जो कुछ कर दिखाया है, वह सराहनीय है। मैंने आते ही युधिष्ठिर को संकेत किया था, परन्तु वह समझा नहीं। यदि वह कह देता कि उन्होंने केवल हँसी-मजाक समझा था, तब भी हम कुछ तो कह-सुन सकते थे।"

मैंने उर्मिला को कहकर श्रीकृष्ण के लिए भोजनादि का प्रबन्ध कराया था। श्रीकृष्ण ने कह दिया, "इस समय मेरा मन इतना खिन्न है कि युधिष्ठिर को देखने को चित्त नहीं चाहता।"

उस दिन और रात को श्रीकृष्ण मेरे घर पर रहे। अगले दिन प्रातःकाल हमको एक सूचना प्राप्त हुई कि पांडव हस्तिनापुर से पाच कोस के अन्तर पर एक मन्दिर में ठहरे हैं।

मैं, श्रीकृष्ण और विदुरजी उनसे मिलने गए। पांचों भाई और उनके मध्य में द्रौपदी बैठ परस्पर विचार कर रहे थे। हमको आया देख वे सब उठ बैठे और उन्होंने झुककर प्रणाम किया। विदुरजी ने सबको आशीर्वाद दिया। जब सब बैठ गए तो श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से पूछा, "दादा! यह तुमने क्या किया?"

"भैया! यह सब विधाता का लिखा पूर्ण हुआ है। मैं समझता था कि आगामी दांव पर शकुनी की चतुराई को पकड़ पाऊंगा, परन्तु प्रत्येक बार ही वह हमको अन्धा कर जीत जाता था।"

"परन्तु तुमने खेलना वन्द क्यों नहीं कर दिया ?"

"मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी।"

"क्या अव बुद्धि ठिकाने है ?" मैंने मुस्कराते हुए पूछ लिया।

"अव तो हम श्रीविहीन होकर जा रहे हैं। श्रीविहीन में बुद्धि होती है क्या ?"

मैंने फिर वही बात, जो मेरे मन में पिछले दिन भीष्मजी के धर्म की विवेचना के विषय में कथन के समय आई थी, कह दी। मैंने कहा, "महाराज ! मेरा कहा मानिये। यहां से सीधे इन्द्रप्रस्थ चले जाइये और वहां जाकर अपना राज्य सँभालिये। यह सव स्वप्न-मात्र था, इसको भूल जाइये।"

"परन्तु तात्, यह अधर्म हो जाएगा।"

"धर्म की व्याख्या जो तुम्हारे वावा भीष्मजी ने की थी, क्या सुनी नहीं ? मैं उस व्यवस्था के अनुसार ही तुमको कह रहा हूं। उन्होंने कहा था—धर्म वही है जो बलवान कहे। देखिए महाराज ! आप अभी भी बलशाली हैं। अभी भी अपनी गर्जना से भू-मण्डल को कम्पायमाप कर सकते हैं। अपने-आपको पहचानिये और पितामह की धर्म की विवेचना को सत्य कर दीजिये।"

"संजयजी ! अपने विचार से आप ठीक कहते हैं। परन्तु आप एक बात नहीं समझते। वह यह कि मैं भीष्मजी के प्रतिपादित धर्म के अनुसार आचरण नहीं कर रहा। धर्म की मेरी विवेचना अपनी है। मैं तो उसका पालन कर रहा हूं। मैंने अपना धन-वैभव, राज्य और सब कुछ जुए में हार दिया है। वह मेरा नहीं रहा। उसका पुनः भोग करना मेरे लिए महापाप होगा।"

"महाराज ! क्या आप नहीं जानते कि शकुनी ने छल-कपट का खेल खेला था।"

"मैं नहीं जानता। मैं विश्वास से ऐसा नहीं कह सकता।"

इस पर विदुरजी ने कह दिया, "युधिष्ठिर ! तुम जुए के खेल को पाप का खेल नहीं समझते क्या ?"

"तात् ! खेलते समय मैं इसको पाप नहीं समझता था। मैं सत्य मन से खेल रहा था। अब भी आप कहते हैं कि परिश्रम के बिना पैदा

किया धन पाप होता है। जुए के अतिरिक्त भी तो कई प्रकार की आय हैं, जो बिना परिश्रम के उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के रूप में धन का ब्याज, मकान का भाड़ा। जब यह पाप नहीं तो जुए से प्राप्त धन पाप कैसे हो गया ? द्यूत-क्रीड़ा लोक-धर्म से धर्मानुकूल है।"

मैं युधिष्ठिर की ऐसी मनोवृत्ति देख व्याकुल हो उठा। मैंने कह दिया, "महाराज, मैं एक बात जानता हूं। वह है कौरवों और पांडवों में युद्ध। वह होगा और अवश्य होगा। यदि युद्ध के समय आप दुर्बल हुए तो यह काल्पनिक धर्म की बातें आपकी सहायता नहीं कर सकेंगी।

"विराट-धर्म तो मनुष्य की सहायता करता है, परन्तु धर्म जो देश और काल के साथ बदलते रहते हैं, बहुत दूर तक सहायक नहीं हो सकते। क्या भला देश-काल के धर्म विराट-धर्म के विपरीत होने पर भी मान्य होते हैं ?

"साथ ही, जब से आपने इस थोथे धर्म को धर्म माना है, आपकी बुद्धि शिथिल पड़ गयी है। द्यूत-क्रीड़ा और मकान का भाड़ा लेने में भला क्या समानता है ? धन परिश्रम का रूपान्तर है। मकान बनवाने में धन व्यय होता है। अतः परिश्रम का रूपान्तर यह मकान भी हुआ। मकान प्रयोग से पुराना और जर्जर होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मकान का प्रयोग करने वाला धन का व्यय करता है। उसको भाड़ा देना ही चाहिए।

"इसके साथ ही धन यदि मकान पर न लगाकर व्यापार तथा उद्योग-धंधों में लगाया जाये तो लाभ देता है। वह लाभ मकान भाड़े पर देने से भी होना चाहिए।

"इसके विपरीत द्यूत-क्रीड़ा तो एक ऐसा खेल है जिसमें अर्थ-शास्त्र के नियम लागू नहीं होते। न तो परिश्रम है, न ही धन का उपयोग उपकारी कार्य में है। अतः इससे लाभ अधर्मयुक्त है।

"देखो भैया, तुमने जुआ खेला, यह अधर्म किया। यदि अब जुए के खेल को अधर्म मान उसके परिणामों को मिटा दो तो निःसन्देह धर्म के भागी होगे।"

युधिष्ठिर निरुत्तर हो गया। इस पर भी उसने कह दिया, "संजय जी ! मेरी आत्मा की पुकार सर्वोपरि है। इसमें युक्ति, जो सदा भ्रामक

होती है, का हस्तक्षेप नहीं। जब तक मेरी आत्मा किसी बात को अधर्म मान नहीं लेती; मैं उसके विपरीत आचरण नहीं कर सकता।"

श्रीकृष्ण ने वार्तालाप बन्द करते हुए कहा, "मैं समझता हूं कि यह ठीक ही हुआ है। अकस्मात् राजसूय-यज्ञ की सफलता और अपार धन-वैभव की अनायास प्राप्ति, बड़े-बड़े तपस्वी और ज्ञानी को भी पतित करने और उसके मस्तिष्क को खराब करने में समर्थवान है। ये अब युक्ति से समझने में अशक्त हैं। इनकी बुद्धि में प्रकाश आने के लिए तेरह वर्ष तक वनों की खाक छाननी आवश्यक है। अतः विदुरजी ! आप भावी संकट को टाल नहीं सकते।

"पांडवों से मेरा कहना है कि तेरह वर्ष के पश्चात् भी धर्म इनके पक्ष में नहीं होगा। यदि ये तब भी दुर्बल और अकिंचन बने रहे, तो राज्य पाना कठिन होगा। इस कारण इनको यह काल अपने में शक्ति अर्जन करने में लगाना चाहिए। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा।

"संसार में यश पाने के लिए सफलता एक अत्यावश्यक साधन है।"

"यह आपके राज्य का छिन जाना, आने वाले युद्ध में धर्म की विजय में बाधा बन गया है।"

"दादा !" विदुरजी ने मुझको और श्रीकृष्ण को बताया, "रात मुनि नारद यहां महाराज धृतराष्ट्र से मिलने के लिए आये थे और कह गये हैं कि यह जुए से जीता राज्य और सती-साध्वी नारी का अपमान कौरवों के विनाश पर मुद्रांकित समझना चाहिए।"

"धृतराष्ट्र इस भविष्यवाणी से भयभीत हो मुझसे मिलने मेरे घर पर ही आ गये। वे कहते थे कि युधिष्ठिर का राज्य उसको लौटा देने को तैयार हैं। परन्तु इससे वैमनस्य कम होने के स्थान पर बढ़ेगा। इससे उनका विचार था कि मैं युधिष्ठिर को यह बात बता दूं और कहूं कि कुछ समय तक वन में घूमने के पश्चात् सब कुछ शान्त हो जायेगा और ये पुनः अपने राज्य पर आसीन हो जायेंगे।

"परन्तु मैं कहता हूं कि यह धृतराष्ट्र की धूर्तता का ही सब परिणाम हुआ है। इस पर भी मैं उसको अपराधी नहीं ठहरा सकता। कारण यह कि मुख्य भूल युधिष्ठिर ने की है। वह मेरे समझाने पर

भी यहां चला आया। मेरे सचेत करने पर भी इसने जुआ खेला और अभी तक वह समझता है कि उसने धर्म-कर्म किया है।

"धृतराष्ट्र को क्या कोसता ! वह तो जन्म से अन्धा होने से संसार को न यथार्थ रूप में देख सका है, न समझ सका है। परन्तु खेद तो इस बात का है कि युधिष्ठिर जो चक्षु रखने वाला है, संसार को न देख सका है, न समझ सका है। उसने उनका भी विश्वास किया जिन्होंने उसको उसकी माता-सहित जलाकर भस्म करने का यत्न किया था।"

"देखो दादा !" अब कृष्ण ने कह दिया, "धर्म को तुम नहीं समझे। अब समझाने पर भी नहीं समझ रहे। इससे यही कहता हूं कि तुम कुछ काल तक वनों की मिट्टी ही छानो, तभी तुम्हारे ज्ञान-चक्षु खुलेंगे।

"लोग जरासंध की मृत्यु को अधर्मयुक्त हत्या का नाम देते हैं। और तो और दादा बलराम भी मुझको यही कहते हैं। मैं अपनी आत्मा को टटोलने के पश्चात् यही कह देता हूं कि ये लोग धर्म के तत्व को नहीं जानते।

"लोक और काल का धर्म कभी अकल्याणकारी नहीं होता। देश और काल-धर्म में, जो परिवर्तन होता है वह भी संसार का, उस देश का और काल में कल्याण करने वाला है। जहां अकल्याण हो वह लोक और काल के विचार से भी धर्म नहीं।"

"बलराम भैया कहने लगे कि धर्म-युद्ध तो यह था कि उसको कह-कर उस पर आक्रमण किया जाता। मैं कहता हूं कि तब लाखों निर्दोष सैनिकों की हत्या हो जाती। उनका अकारण अकल्याण हो जाता। अतः वह धर्म नहीं था।

"इसी प्रकार दुर्योधन से युद्ध लोक-कल्याण की बात है। तुमने लोक-धर्म की आड़ लेकर लोकहित का बलिदान कर दिया है. इस कारण यह धर्म नहीं। तुमने उसके हाथों को सुदृढ़ किया है जिससे प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही है। इस प्रकार तुमने अधर्म की ही सहायता की है। यह लोक और काल के लिए अकल्याणकारी होने से अधर्म हुआ है। इसे धर्म नहीं कह सकते।"

"भैया !" युधिष्ठिर ने कुछ कुपित होकर कह दिया, "मुझको

आप सब की बात वाग्जाल प्रतीत हो रही है। मैंने चेतनावस्था में राज्य और पूर्ण धन-वैभव हारा है। इस कारण उसे हारा हुआ ही मानता हूं।"

इस पर विदुरजी ने कह दिया, "क्या माता कुन्ती को भी साथ ले जा रहे हो?"

"क्या सुभद्रा तथा रानियां भी साथ जायेंगी?" यह श्रीकृष्ण ने पूछ लिया।

पांडव विस्मय में युधिष्ठिर का मुख देखने लगे। द्रौपदी-सहित चारों भाई इस बात को अनुभव कर रहे थे कि युधिष्ठिर ने भारी भूल की है। अभी तक तो वे इसको एक भूल ही मानते थे, परन्तु अब उसी को अधर्म और अन्याय भी मानने लगे थे। इस पर भी बड़े भाई के प्रति मान के कारण सब चुप थे। युधिष्ठिर ने उनके मन की दशा का अनुमान लगाकर कह दिया, "सुनो भाइयो! मैंने जो कुछ किया है अपने मन में विचारोपरान्त किया है। यदि तुम समझते हो कि तुम मेरी धर्म की चक्की में पिसना नहीं चाहते तो तुम लौट जाओ। तुमने जुआ नहीं खेला। द्रौपदी देवी! तुम भी इनके साथ जा सकती हो।"

भीमादि अभी भी अनिश्चित मन से चुप बैठे थे। इस पर द्रौपदी ने कह दिया, "मैं आप पांचों की समान पत्नी हूं। यदि ये, छोटे पति आपके साथ नहीं जा रहे तो मेरे पाँच टुकड़े कर, अपना-अपना भाग लेकर जा सकते हैं। मेरा एक अंश महाराज की सेवा के लिए इनके साथ रहेगा ही।"

द्रौपदी की इस बात ने निर्णय करने में सहायता कर दी। सबसे पहले भीम ही बोला, "धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय की बात मैं नहीं जानता। मैं बड़े भाई की आज्ञा मानने में ही अपना कल्याण मानता हूं और महाराज युधिष्ठिर के साथ ही रहूंगा।"

इस प्रकार अन्य तीनों ने भी कह दिया। वास्तव में उनमें से कोई भी द्रौपदी को छोड़कर जाना नहीं चाहता था।

यह निश्चय हुआ कि पांडव वहां से प्रस्थान कर दें, विदुरजी कुन्ती को अपने घर ले जायें और सुभद्रा और अन्य रानियां अपने-अपने

मायके चली जायें।

इस प्रकार निश्चय कर हम वहां से लौट आये। विदुरजी तथा श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ चले गये। मैं अकेला ही हस्तिनापुर लौट आया।

: १३ :

मैं घर पर पहुंचा तो उर्मिला ने बताया कि महाराज धृतराष्ट्र ने बुला भेजा है। मैं थोड़ा विश्राम कर राज्य-प्रासाद की ओर चल पड़ा। मेरा अनुमान था कि राज्य-प्रासाद में भारी खुशियां मनाई जा रही होंगी, परन्तु वहां का दृश्य सर्वथा विपरीत दिखाई दिया।

मैं द्वार पर पहुंचा तो महाराज का निजी सेवक मेरी प्रतीक्षा में वहीं पर खड़ा था। मुझको देख उसने कहा, "महाराज आपसे मिलने के लिए अति उतावले हो रहे हैं। मुझे आपके निवास-स्थान पर चार बार भेज चुके हैं। अब मैं पांचवीं बार आपकी ओर जा रहा था।"

"क्या बात है सुधीर!" यह उसका नाम था।

"ऋषिवर! कल जो अनर्थ हुआ है, उसकी आज पूर्ण नगर में खूब चर्चा है। प्रासाद की स्त्रियां कल से विलाप कर रही हैं।"

"क्यों, उनके पतियों का तो भाग्य खुल गया है। वे इतनी धन-सम्पदा के स्वामी बन गये हैं कि पृथ्वी पर अब कोई भी उनके मेल का नहीं रहा।"

"ठीक है भगवन्! परन्तु रात मुनि नारद जी आये थे। वह महारानी गांधारी और महाराज धृतराष्ट्र को डांट-फटकार गये हैं। मैं उस समय वहां पर ही था। उन्होंने कहा था, 'अन्धे महाराज! घोर पातकी हो तुम! तुमने अपनी ही वधू को, जबकि वह रजस्वला हो रही थी और केवल एक वस्त्र से थी, भरी सभा में बालों से घसीटते हुए लाये जाने में आपत्ति नहीं की। देखो!' नारद जी का कहना था, 'राज्य, धन, सम्पदा स्त्री की मान-मर्यादा के समक्ष कुछ भी गणना नहीं रखते। द्रौपदी सती-साध्वी स्त्री है। उसने अपने पति की इच्छा के विपरीत कभी कुछ भी करना उचित नहीं माना। अन्यथा यदि वह शाप देती तो कौरव उसी समय भस्म हो जाते।

'जानते हो उसको नग्न क्यों नहीं किया जा सका? दुःशासन से पूछना। उसकी एकमात्र साड़ी उतारने में वह अशक्त क्यों हो गया था?

'अब सुनो!' नारद ने आगे कहा, 'मैं इन सब कौरवों के और उनके सहायकों के रुण्ड-मुण्ड रणभूमि में लुढ़कते देख रहा हूं। इनकी विधवा पत्नियों के विलाप का आर्तनाद मेरे कानों में सुनाई देने लगा है। मैं इसलिए आया हूं कि यदि तुम यह सब कुछ अपने सामने होता देखना नहीं चाहते तो संन्यास ले लो और इस श्रापित राज-भवन को शीघ्र छोड़ जाओ।'

"इतना कह नारदजी चले गए। परन्तु उस समय से पूर्ण राज-भवन सब रानियों के विलाप से गूंज रहा है और यहां शोक छाया हुआ है।"

इस समय मैं महाराज धृतराष्ट्र के आगार में जा पहुंचा था। मैंने नमस्कार किया तो महाराज ने मुझको बैठ जाने के लिए कह दिया। तत्पश्चात् मुझसे पूछा, "संजयजी! आप क्या कहते हैं?"

मैंने कह दिया, "महाराज! एक ही उपाय है। दुर्योधन और शकुनी अभी युधिष्ठिर के पास चले जावें। वे जाकर कहें कि उन्होंने जुए में छल किया है। अन्यथा उनका जीतना असम्भव था। उसको स्वयं इन्द्रप्रस्थ ले जाकर सिंहासन पर बैठायें। तब ही यह किया गया महापाप फलहीन हो सकता है।"

"यह तो बहुत ही कठिन है। दुर्योधन यह मानेगा भी नहीं। प्रासाद में मच रहे कोहराम से दूर जाने के लिए वह मद्य पीकर अचेत हुआ पड़ा हुआ है।"

"तो महाराज! यदि संसार में भगवान् है और उससे न्याय होता है, तो एक सती-साध्वी का यह अपमान रंग लाएगा।

"महाराज! सबसे भारी अपराध तो आपका है। आपने इस द्यूत-क्रीड़ा को खेलने की स्वीकृति ही क्यों दी? आपने द्रौपदी का अपमान होते सुना तो उसी समय हस्तक्षेप क्यों नहीं किया। आप यहां के महाराज हैं। दुर्योधन को तो अभी युवराज-पद भी प्रदान नहीं किया गया। उसको क्या अधिकार था कि ऐसा कुकर्म कर सकता?

"परन्तु महाराज ! मैं आपको एक अन्य बात बताना चाहता हूं। आज से पैंतालीस वर्ष पूर्व मुझको देवलोक जाने का अवसर मिला था। उस समय आपकी दादी महारानी का हठ देख इन्द्र ने कहा था कि यह वंश विनाश की ओर भागा जा रहा है। उस समय से ही मैं आपके वंश का परामर्शदाता बना हुआ हूं। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आपके परिवार को उन कार्यों से रोकता रहा हूं जिनसे इन्द्र की भविष्यवाणी सार्थक होने वाली है। परन्तु मेरी आज तक किसी ने नहीं सुनी। अब तो जो कुछ है वह इतना भयंकर है कि मुझको भी पूर्ण कुरु-वंश का विनाश होने का विश्वास हो रहा है। लक्ष-लक्ष युवा स्त्रियां विधवा होंगी। यह सब एक सति-साध्वी के अपमान के कारण !

"और कोई उपाय नहीं। यह न्याय का अकाट्य नियम है कि पाप का फल भोगना ही पड़ता है। आपके जीवन-काल में ही आपके पुत्र, पौत्र, भाई-बन्धु सब काल के ग्रास हो जायेंगे। इस पर भी आपके पाप का बोझ कम होगा अथवा नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता।"

धृतराष्ट्र चुप रहा। गांधारी वहां बैठी आंसू बहा रही थी। उसकी आंखों की पट्टी भीग गयी थी और इस पर भी उसके आंसू उसके आंचल को गीला कर रहे थे।

महाराज धृतराष्ट्र ने दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और उठ खड़े हुए। मैंने प्रणाम किया और चला गया।

मुझको पीछे पता चला कि धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को मेरी सम्मति बताई थी। तब दुर्योधन ने केवल यह कहा था, "जो राजा के धर्म और राजा के कर्तव्य से अनभिज्ञ हैं, वे ऐसी ही बातें करते हैं। महाराज, आप अपनी आत्मा को दृढ़ रखिए। इतना बड़ा साम्राज्य इन औरतों के रोने-गाने से नहीं चल सकेगा।"

तृतीय परिच्छेद

: १ :

पांडवों के वन में चले जाने के पश्चात् मैं अपने-आपसे उदासीन होकर पिताजी के पास आश्रम में चला गया। इस समय वह बहुत वृद्ध हो गए थे और आश्रम का कार्य दिन-प्रतिदिन बिगड़ता जाता था। मैंने मन में वहां रहकर शिक्षा-कार्य करने का ही विचार बना लिया था।

परन्तु ऐसा न हो सका। मेरे वहां पहुंचने के पूर्व ही पिताजी का देहावसान हो चुका था। आश्रम के बहुत से लोग आश्रम छोड़ जा चुके थे। विद्यार्थी तो एक भी वहां पर नहीं था। मेरा लड़का जो वहां पर था, उसने बताया, "पिताजी का देहान्त एकाएक हो गया और पश्चात् आश्रम में विघटन आरम्भ हो गया। मैं भी आपके पास हस्तिनापुर जाने का विचार कर रहा था।"

लड़के को मैंने हस्तिनापुर उर्मिला के पास भेज दिया। स्वयं देवलोक जाने का विचार करने लगा। इन्द्र में यह श्रेष्ठता थी कि जब मैं उनसे मिलने की इच्छा प्रकट करता था, वे मेरे लिए विमान भेज देते थे। इस बार भी यही हुआ। मेरे मन में इच्छा उठी और विमान आ गया। अगले दिन प्रातःकाल ही मैं इन्द्र के सम्मुख जा खड़ा हुआ।

इन्द्र ने उलाहना देते हुए कहा, "सब गुड़ गोबर कर दिया न ?"

"महाराज ! मैंने तो बनाने का यत्न किया था। मैं भागकर द्वारिका गया और श्रीकृष्ण जी को लेकर शीघ्रातिशीघ्र पहुंचने का यत्न किया, परन्तु खेद इस बात का है कि समय पर नहीं पहुंच सका।

"श्रीमान् ! मनुष्य की आत्मा तो परमात्मा के भी अधीन नहीं। भला आप देवता उस पर शासन कैसे कर सकते हैं ? मनुष्य केवल

एक बाधा से बंधा हुआ है, और वह है उसका कर्म-फल।

"पांडव अपने कर्मों के अधीन हो, सब कुछ जानते हुए, जुआ खेलने गए। विदुर जी के समझाने पर भी कि शकुनी महाधूर्त है और छल-कपट का खेल खेलता है, वे नहीं माने।

"पीछे मैंने और श्रीकृष्ण ने उनको कहा कि वे इस छल-कपट को न मानें और सीधे इन्द्रप्रस्थ जाकर राज्य को सम्भालें। परन्तु युधिष्ठिर सत्य और वचन-पालन को धर्म का मुख्य अंग मानता है। अतः उसने कृष्ण जैसे हितैषी का कहना भी नहीं माना और भाइयों तथा पत्नी-सहित वन को चला गया।"

"पांडवों की करनी से तो हमारी पूर्ण योजरा पर पानी फिर गया है।" इन्द्र ने चिन्ता प्रकट करते हुए कहा, "हम चाहते थे कि कौरवों से युद्ध उसी समय हो जब पांडव पूर्ण सत्ता-प्राप्त चक्रवर्ती राजा हों। ऐसा हो सकता तो जन-हत्या कम से कम होती, परन्तु ऐसा न हो सका। अब तो कौरव शक्ति-सम्पन्न हो जायेंगे। भले-बुरे सब उनके सहायक हो जायेंगे। जिससे उदको परास्त करना अति कठिन हो जायेगा। इस पर भी युद्ध तो होगा। उसमें कौरवों की पराजय होगी। परन्तु ऐसा होने के लिए जहां कौरवों का पूर्ण वंश नष्ट होगा, वहां पांडवों के भी कोटि-कोटि पक्षपाती मृत्यु का ग्रास बनेंगे। परन्तु मानव-जीवन सीधी रेखाओं में नहीं चलता। यह टेढ़े-मेढ़े मार्गों पर ही चलता है।

"कौन कह सकता था कि युधिष्ठिर जैसा बुद्धिमान व्यक्ति जुआ खेलने के व्यसन में इतना लीन होगा कि शकुनी जो कुछ दाव पर लगाने के लिए कहता जाएगा, वह मानता जाएगा? हम तो स्वप्न में भी इस बात का अनुमान नहीं करते थे। एक बार भीष्मजी ने कहा भी, 'अब बस करो।' परन्तु वह माना नहीं।

"संजयजी! कभी तो यह विचार करता हूं कि इन मूर्ख पांडवों की बातों में हस्तक्षेप कर व्यर्थ में अपने मन को सन्तप्त करता हूं। यदि इनको इनके भाग्य पर ही छोड़ दूं तो क्या ठीक न होगा? फिर यह विचार करता हूं कि मैं जो कुछ कर रहा हूं, वह केवल इन पांडवों के निमित्त तो है नहीं। हम तो भारतवर्ष में रहने वाली धर्म-परायण प्रजा की

रक्षा का प्रवन्ध कर रहे हैं। पांडव तो साधन हैं। अब साधन कैसा भी हो, उसकी उचित प्रयोग कर सकना ही हमारी योग्यता का माप-दण्ड है।

"इसके साथ यह भी बात है कि हम कर्म करने के अधिकारी हैं। फल प्राप्त होना हमारे अधीन नहीं। उसकी चिन्ता करना उचित नहीं। अव जो कुछ हो गया, सो हो गया। उसका फल भी नारदजी धृतराष्ट्र को वता आए हैं।

"उन्होंने महाराज को वताया है कि जहां सती-साध्वी नारियों का अपमान होता है, वहां पर विनाशरूपी पक्षी पंख फैलाए मंडराने लगता है। द्रौपदी को वेश्या का नाम दिया गया। उसको भरी सभा में नग्न करने का यत्न किया गया है। इस पर भी परिवार के सब वृद्ध-जन और राज्य के महापुरुष चुपचाप बैठे रहे और यह सब देखते-सुनते रहे। यह इस बात का सूचक है कि कौरवों की स्त्रियां पतियों के मरने पर विधवा हो विलाप करेंगी।

"हमारी पहली योजना में तो कुरु-वंश के कुछ अति दुष्ट मुख्य पुरुषों के विनाश का विचार था, परन्तु अब तो सब के सब ही एक भट्ठे के बने प्रतीत होते हैं। अब तो यही परिणाम समझ में आता है कि लाखों कुरु-वंशी इस संघर्ष में धराशायी होंगे और विधवाओं के करुण-क्रन्दन से ब्रह्माण्ड गूंज उठेगा। उन विधवाओं से लाखों वर्णसंकर संतान उत्पन्न होंगी। ये भारत की पुण्यभूमि को नरककुण्ड बनाकर छोड़ेंगी।"

इन्द्र अपनी योजना निष्फल हो जाने पर, न जाने कितनी देर तक विलाप करता रहता। मैंने बातचीत बीच में रोककर पूछ लिया, "महा-राज! अब क्या करना होगा?"

"बारह वर्ष तक तो कोई कार्य नहीं रहा। युधिष्ठिर अपने वचन पर दृढ़ है। वह तेरह वर्ष से पूर्व वापस नहीं लौटेगा। तेरहवें वर्ष अज्ञातवास का आयोजन वह कर रहा है। इस कठिन परीक्षा से उत्तीर्ण होने पर युधिष्ठिर धृतराष्ट्र से अपनी प्रतिज्ञा पालन करो की आशा करता है। वह समझता है कि वह अपना राज्य वापस पाकर शेष जीवन सुख और शान्ति से व्यतीत करेगा।

"यह सब झूठी आशा है कि धृतराष्ट्र अपने कथन से बदल जायेगा।

भीष्म को धर्म की विवेचना, जो बलशाली कहे वही धर्म है, उसके गले में फांस की भांति लटक जायेगी।

"वह अन्धा राजा तेरह वर्ष पश्चात् की भी योजना बना रहा है। क्या आप जानना चाहते हैं? आइये, आपको आज फिर हस्तिनापुर की सैर कराएं।"

इस पर इन्द्र उठा और मुझको अपने भवन के उस कक्ष में जहां दिव्य दृष्टि के यन्त्र लगे हुए थे, ले गया।

यह धृतराष्ट्र के भवन का सभा-कक्ष था। इसमें वह बाहर के लोगों से मिला करता था। धृतराष्ट्र एक उच्च सिंहासन पर विराजमान था। उसके सम्मुख महर्षि मैत्रेयजी बैठे थे। धृतराष्ट्र के समीप नीचे आसनों पर दुर्योधन और दुःशासन बैठे थे।

मैं इस गोष्ठी को होते देख चकित रह गया। मैं समझ नहीं सका कि महर्षिजी किस कारण दुर्योधन जैसे दुर्मुख से बातें कर रहे हैं। मेरे मनोभावों को समझ इन्द्र ने बता दिया, "पांडवों का राज्य छल से छीने जाने की बात भरत खंड में फैल गई है और इसके परिणामों के चिन्तन से सब विद्वान और भविष्य-द्रष्टा व्याकुल हो उठे हैं। अतः उनमें से सर्वपूज्य मैत्रेयजी धृतराष्ट्र और दुर्योधन को उपदेश देने के लिए आए हैं। ये बेचारे शुद्ध भावना से लोक-कल्याण के हेतु इस कीचड़ में आकर बैठे हैं। अन्यथा इनके वहां जाने में कुछ प्रयोजन नहीं था?"

इस समय धृतराष्ट्र का शब्द सुनाई देने लगा। धृतराष्ट्र अति विनीत भाव से पूछ रहे थे, "भगवन्! आप वन में पांडवों से मिले हैं क्या? वे कैसे हैं? क्या वे अपने वचन पर दृढ़ रहने का विचार रखते हैं?"

मैत्रेयजी के मुख पर व्यंगात्मक रेखाएं दिखाई देने लगीं। इसका अर्थ यह था कि वे धृतराष्ट्र के इस प्रश्न में कारण समझ गए थे। वे कहने लगे, "हां काम्यक् वन में उनसे भेंट हुई है।

"प्रभो! जटा और मृगचर्म धारण किए महात्मा धर्मराज को देखने के लिए वहां बहुत से मुनि एकत्रित हो रहे हैं। वहां नित्य भगवद्-भजन और धर्म-चर्चा होती है।

"वहां ही मैंने उनके वन-गमन की पूर्ण कथा सुनी है। वहां मैंने

यह भी जाना है कि तुम्हारे पुत्रों की बुद्धि भ्रान्त हो गई है। इन्होंने छल से अपने भाइयों का राज-पाट छीन लिया है। इन्होंने अपने भाई की पत्नी, जब वह रजस्वला थी, सभा में लाकर नग्न करने का यत्न किया और इस सभा में तुम, भीष्म और द्रोण उपस्थित थे। मुझको यह पता चला है कि भीष्मजी ने दुर्योधन को इस कुकृत्य से रोकने के स्थान, द्रौपदी से संवाद में धर्म की वारीकियों पर व्याख्यान देना आरंभ कर दिया था। उस वृद्ध महानुभाव को यह भी समझ नहीं आया कि नीच-से-नीच स्त्री को भी भरी सभा में और वृद्ध-जनों के सम्मुख, उसकी इच्छा के विपरीत नग्न करना, महा पातकी कार्य है। वे उस समय निरर्थक धर्म की सूक्ष्मता पर विचार करने लगे थे।

"यह सुन मैं स्वयं यहां सत्य जानने के लिए आया हूं। मैंने पुर-वासियों से और यहां के सेवकों से पूर्ण वृत्तान्त जाना है। जानकर मुझको भारी दुःख हुआ है।

दुर्योधन, दुःशासन और धृतराष्ट्र चुपचाप बैठे रहे। महर्षि मैत्रेय भी कुछ काल तक चुप रहे। वे अपने रोष को शांत करते रहे। कुछ देर पश्चात् वे पुनः कहने लगे, "महाबाहु दुर्योधन ! तुझको भगवान् ने यह प्रभुत्व और शक्ति दी है। अतः मेरी एक वात सुनो, तुमको पांडवों से द्रोह नहीं करना चाहिए। तुमको अपने, पांडवों के तथा कुरु-वंश के कल्याण का ध्यान रखना चाहिए।

"देखो दुर्योधन ! पांडव शूरवीर, पराक्रमी और युद्ध-कुशल हैं। वे सब के सब ही सत्य, व्रतधारी और अपने पौरुष पर अभिमान रखने वाले हैं। उन्होंने हिडिम्बा तथा क्रिमारि जैसे भयंकर राक्षसों को मार कर अपनी शक्ति का भलीभांति परिचय दिया है।

'इसके अतिरिक्त वासुदेव श्रीकृष्ण उनके मित्र हैं। महाराज द्रुपद उनके श्वसुर हैं। धृष्टद्युम्न उनके साले हैं।

"इस कारण युद्ध में उनसे विजय प्राप्त करनी असम्भव है।"

जब यह मैत्रेयजी कह रहे थे दुर्योधन ने अपनी हाथी की सूंड़ समान सुदृढ़ जांघ को ठोका। यह देख मेरी और इन्द्र की हँसी निकल गई। मैत्रेयजी मुस्कराते हुए दिखाई दिए।

उन्होंने दुर्योधन के पांव की ओर देखा। वह पांव से धरती खोद

रहा था। यह देखा तो मैत्रेयजी को क्रोध चढ़ आया। उन्होंने कहा, "तुम मेरी बात को अनसुना कर यदि अपने हठ पर ही दृढ़ हो तो सुनो, तुम्हारे इस कार्य के फलस्वरूप एक बड़ा भारी युद्ध होगा। लाखों तुम्हारे भाई-बन्धु और सजातीय उस युद्ध में मृत्यु के ग्रास बनेंगे। तुम्हारी यह जांघ जिसको ठोंक-ठोंक कर अपना अभिमान प्रकट कर रहे हो, भीम की गदा से चूर्ण-चूर्ण हो जाएगी।"

जब यह बात महर्षि ने क्रोध में कही तो धृतराष्ट्र ने महर्षि से विनयपूर्वक कहा, "भगवन् ! इस बालक पर रोष न करिए। कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे इस भयंकर युद्ध का होना टल सके।"

"बताया तो है, जब तुम्हारा पुत्र ठीक आचरण करेगा तब ही यह युद्ध शांत हो सकेगा। मुझको ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम्हारा पुत्र अभिमानवश किसी का भी कहना नहीं मानेगा। इस कारण मैं इस विषय में तुमको कुछ और नहीं कहना चाहता।

"यह देखो, तुम्हारा साधु भाई विदुर तुम्हारे सामने खड़ा है, शांति का मार्ग, जिसकी ओर मैंने संकेत किया है, यह बताएगा।

"मैं तो यहां अपना दम घुटता हुआ पाता हूं। तुम्हारे इस प्रासाद से तुम्हारे बन्धु-बांधवों के रक्त की गंध आ रही है।"

इतना कह मैत्रेयजी उठ कर लंबे-लंबे पग धरते हुए चले गए। धृतराष्ट्र ने विदुर की ओर, जो मैत्रेयजी का आगमन सुनकर चले आए थे, देखकर पूछ लिया, "हां विदुर जी, आपकी क्या सम्मति है ?"

विदुरजी ने मैत्रेयजी को रुष्ट हो जाते देखा था। इस कारण उन्होंने कह दिया, "राजन् ! पांडव अति बलशाली हैं। वे अभी तो वचन-बद्ध हीन-दीन दिशा में घूम रहे हैं। परन्तु यह ऐसे ही समझो, जैसे कि भयंकर आंधी के पूर्व शांति होती है। भीम और अर्जुन के भुजदंड, उस अपमान का बदला लेने के लिए, जो दुर्योधन ने उनका किया है, फड़क रहे हैं।

"इस सब का एक ही निराकरण है। दुर्योधन अभी काम्यक् वन को चला जाए। उनके साथ रहकर उनके रोष को मिटाए। उनसे मैत्री का भाव प्रकट करे और उनके मन की कलुष को निकाल दे। तत्पश्चात् उनको इन्द्रप्रस्थ ले जाए और उनको सिंहासन पर बैठा

कर उनसे अपने कर्मों के लिए क्षमा-याचना करे।"

विदुरजी की इस बात के कहने के बीच दुर्योधन उठकर प्रासाद के अपने कक्ष में चला गया। क्षमा की बात सुनकर धृतराष्ट्र भी क्रोध से खड़ा हो गया। धृतराष्ट्र ने जाने से पूर्व कह दिया, "देखो विदुर! तुम हमारे परिवार के टुकड़े खाकर जीवन व्यतीत कर रहे हो। तुमको तो इतना कृतघ्न नहीं होना चाहिए कि जिसका अन्न खाते हो, उसको ही नीचा दिखाने का यत्न करो। तुम सदा ही पांडवों का पक्ष लिया करते हो और मेरे पुत्रों की निन्दा किया करते हो।

"मैं यह सहन नहीं कर सकता। सुनो! पांडव भी हमारे परिवार के ही हैं। परन्तु जो सम्बन्ध मेरा दुर्योधन से है, वह पांडवों से कैसे हो सकता है! मैं कौरवों को अपना सगा मानता हूं और उनकी हेठी सहन नहीं कर सकता।

"सुनो! तुम आज से इस घर का आश्रय नहीं पा सकोगे। जहां तुम्हारे सींग समाएं चले जाओ। मुझको आज के बाद तुम्हारी आवाज सुनाई न दे।"

: २ :

विदुरजी को हस्तिनापुर से निकाले जाने की बात देख मुझको बहुत ही दुःख हुआ। मैं अपने मन में विचार करने लगा कि मैं भी उर्मिला आदि को लेकर हस्तिनापुर छोड़ दूं। किसी अन्य राज्य में जाकर बस जाऊं।

मैं अभी यह विचार कर ही रहा था कि इन्द्र ने यन्त्र बन्द कर दिया और मुझको दो-तीन दिन देवलोक में ही रहने का आदेश दे दिया।

वे कहने लगे, "तब तक मैं आपके करने योग्य काम बता दूंगा। मैं समझता हूं कि इस नई परिस्थिति में, हमको अपना मार्ग अधिक विचार कर निश्चय करना चाहिए।"

इस बार मुझको भवन के उस आगार में ठहराया गया, जहां मैं पहली बार ठहराया गया था। मैं जब वहां पहुंचा तो वहां पड़ी तूलिका और रंग तथा चित्रों का वस्त्र देख मेरी हंसी निकल गई।

मैंने सेवक से, जो मुझको वहां लेकर आया था, पूछ लिया, "इस आगार में पहले कोई ठहरा हुआ था क्या ?"

"जी हां ! मेनका देवी चित्रकला सीख रही हैं। यह उनका ही सामान रखा है।"

"तो मुझको वहां किसलिए ले आए हो ?"

"आज से यह स्थान आपके ठहरने के लिए निश्चित हुआ है।"

"तो यह देवी का सामान उठाकर ले जाओ ?"

"वे अभी आ रही हैं। देवेन्द्र जी ने उनको बुलाया है।"

मैं समझ गया कि इन्द्र अपनी प्रिय अप्सरा का चित्र बनवाने का षड्यन्त्र कर रहा है। मैंने अपने मन में विचार किया और निश्चय कर लिया कि यदि वे सवस्त्र चित्र बनवाना चाहेंगे तो बना दूंगा। परन्तु जब वह आई तो उसने पहले मुझको देख विस्मय प्रकट किया और पूछा, "ऋषिवर ! कब आए ?"

"कुछ घड़ी पूर्व। मुझको यह जानकर कि देवीजी आजकल चित्र-कला का अभ्यास करती हैं, बहुत हर्ष हुआ है।"

"हां ! कई वर्ष के अभ्यास करने पर भी मैं अभी उस कौशल को प्राप्त नहीं कर सकी जो आपको प्राप्त है।"

"प्राप्त था, कहो ! अब तो मुझे तूलिका को हाथ लगाए वर्षों व्यतीत हो चुके हैं।"

"आपने इतनी रसमयी कला का अभ्यास छोड़ क्यों दिया है ?"

"मुझको इससे अधिक रसमय कार्य मिल गया है। मैं अब मानवमनों का अध्ययन कर उनके शब्द-चित्र बनाने का प्रयत्न करता रहता हूं।"

"अर्थात आप लेखक बन गये हैं ?"

"नहीं ; मैं कथाकार बन गया हूं। पिछले सात वर्ष भरतखण्ड के भिन्न-भिन्न भागों में जाकर महापुरुषों के कथानक कहता रहा हूं। मुझको उसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है।"

"मुझको महापुरुषों के चरित्र सुनने में कभी रुचि नहीं हुई। मैं जानती हूं कि यह चरित्र काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार की ही कीली पर घूमते हैं। यहां हमारे लोक में इन दुर्गुणों के लिए कोई

स्थान नहीं। हमें काम का वेग सताता नहीं। यहां उसकी तृप्ति के साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। जब काम की तृप्ति हो जाती है तो क्रोध आता ही नहीं। इसी प्रकार लोभ और मोह का डंक भी हमारे विधि-विधान के निर्माताओं ने निकाल रखा है। अहंकार तो यहां के रहने वालों में है ही नहीं। जब उनका कुछ अपना है ही नहीं तब भला अहंकार हो भी कैसे ?"

मैंने बात टालने के विचार से कह दिया, "मेनका देवी, अब तो बहुत समझदार हो गई हो। होना भी चाहिए। पैंतालीस वर्ष के पश्चात् देवी के दर्शन हुए हैं। इतने लम्बे काल में कुछ तो ज्ञानवृद्धि होनी अनिवार्य ही थी।

"परन्तु देवी! वह देखो, देवेन्द्र ने कृपा कर इस आगार को सजाने के लिए यहां एक सरस्वती की मूर्ति की स्थापना कर दी है। कितनी सौम्य मूर्ति है! कैसी मनोहर मुस्कराहट और चित्ताकर्षक चितवन है उसकी। इस अद्‌भुत कलाकृति से सतत् प्रसन्नता, सन्तोष और बुद्धिमत्ता टपकती रहती है।

"कलाकार ने कितने कौशल और चातुर्य से इसका निर्माण किया है। इस पर भी मुझे यह समझ आता है कि यदि भगवान कृपा कर यह वर दे कि मेनका देवी वैसी मूर्ति बन जाये जिससे देवेन्द्र के किसी आगार की शोभा द्विगुण हो सके, तो कदापि पसन्द नहीं करेंगी।

"इसी प्रकार, देवी! मानव समझते हैं कि देवेन्द्र ने यहां लाखों मूर्तियां घड़ रखी हैं। जहां जिसकी आवश्यकता होती है, वहां उसकी स्थापना हो जाती है। कहीं किसी ऋषि-महर्षि का जप-तप भंग करना होता है तो पत्थर की मूर्ति को उसके पास भेज दिया जाता है। कितना वांछनीय कार्य है जो यहां के रहने वालों से लिया जाता है। क्या यह वैसा ही कार्य नहीं जैसा इस सरस्वती की मूर्ति से लिया जा रहा है।

"देवी मेनका! मुझे तो यही प्रतीत होता है कि यहां के रहने वाले देवी-देवता प्रायः हाड़-मांस की मूर्तियां ही हैं जिनमें से मन को निःशेष कर दिया गया है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार इन मन के विकारों को हटाने के स्थान मन को ही हटा बाहर कर दिया है।

"हम क्षुद्र मानवों में ऐसा नहीं होता। यदि हम किसी मानव से

उसकी इच्छा के विपरीत कार्य लेना चाहें तो वह न कर सकता है। इस न करने पर उसको प्राय: न्यूनाधिक कष्ट सहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वह कष्ट और अनिच्छित कार्य की बुराई से तुलना करता है। कभी तो उसको कार्य इतना बुरा प्रतीत होता है कि वह उसके न करने पर होने वाले कष्ट को सहन करने को तैयार हो जाता है। कभी उसको समझ आता है कि कार्य इतना बुरा नहीं जितना उसके न करने से कष्ट होगा, तो वह अपनी इच्छा के विपरीत उस कार्य को करने पर विवश हो जाता है।

"इस पर भी इन दोनों में तुलना कर इस बात का निर्णय करना कि कार्य ग्रहण करने योग्य है अथवा बुरा है, यह सब वह स्वयं करता है। हम अपने इस निर्णय करने के अधिकार को छोड़ना नहीं चाहते। इसको मानसिक स्वतंन्त्रता कहते हैं। इसके लिए हम निरंतर यत्नशील रहते हैं।

"इस स्वतंत्रता को रखने के लिए हम मन को अपने में जीवित-जागृत रखते हैं। इस जीवित मन में इसके विकार काम, क्रोधादि आते हैं और हम उनका शोधन करते रहते हैं।"

"कैसे संशोधन करते हैं?" मेनका का प्रश्न था।

"जप, तप, ध्यान और योग से।"

"ये क्या होते हैं?"

"इनको सीखने के लिए तुमको इन मूर्तियों का देश छोड़ना होगा। किसी वेदवेत्ता विद्वान के आश्रम में जाकर मनोविज्ञान की अ-आ-इ-ई से शिक्षा आरम्भ करनी होगी।"

"यह तो अब इस जन्म में कठिन है। हां उर्मिला तो अवश्य सीख गई होगी?"

"वह यहां से जाने के समय अपना मन सर्वथा खो नहीं चुकी थी। उस मन में मुझसे विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई तो यहां के विधि-विधान उस इच्छा को निःशेष करने के लिए उसमें से मन को ही निःशेष करने का यत्न करने लगे। उसने अपने मन की रक्षा के लिए यहां के विधि-विधानों का विरोध किया। उसके लिए उसको दंड दिया गया। यह तो घटना-मात्र ही था कि दंड जो उसको यहां के विधि-विधान भंग

करने पर मिला, उसकी इच्छा पूर्ण करने में सहायक हो गया। वह वहां जा पहुंची जहां उसके जाने की इच्छा थी।"

इन बातों में समय बहुत निकल गया। मेनका ने आगार में प्रकाश कम होते देख कह दिया, "मैं तो आज आपका चित्र बनाने आई थी।"

"सत्य !" मैं हंस पड़ा।

इस पर उसने बताया, "आप बूढ़े हो गए हैं। इस पर भी आपके मुख पर एक विशेष सौन्दर्य और ओज है। मैंने आपको देखा तो आपका चित्र बनाने की इच्छा जागृत हो गई। मैं इसी बात की स्वीकृति लेने के लिए देवेन्द्र के पास गई थी। परन्तु स्वीकृति मिल जाने पर भी आज देरी हो गई है। यदि आपका मन इसको बुरा न माने तो कल आ जाऊंगी और आपका चित्र बनाने का यत्न करूंगी।"

"क्या लाभ होगा इससे ?"

"हमारे देश में वृद्धजन नहीं हैं। प्रायः युवक और युवतियां ही हैं। इस कारण मैं समझती हूं कि आपका चित्र एक दर्शनीय वस्तु हो जायेगा।"

इस पर पुनः मेरी हंसी निकल गई—"तो ऐसा मानूं," मैंने हंस कर कह दिया, "कि मैं कोई विचित्र जन्तु हूं। यहां ऐसी रूपरेखा का जन्तु मिलता नहीं। इस कारण तुम उसका चित्र बनाकर किसी सार्वजनिक स्थान पर स्थापित करोगी। देवेन्द्र उसके नीचे यह लिख देंगे, 'मानव-समाज के विधि-विधान का दुष्परिणाम !' ठीक है न !"

"यह तो मैं जानती ही नहीं।" मेनका ने चंचल आंखों से मेरी ओर देखते हुए कहा—"मैं तो आपके सौन्दर्य से प्रभावित हो, एक सुन्दर वस्तु का ऐसा चित्र बनाकर रखना चाहती हूं जो शताब्दियों तक यहां के लोगों के मन में विवेक और शान्ति उत्पन्न करता रहे।"

मैं मेनका की इस इच्छा को सुन इसमें कारण जानने का विचार करने लगा। मैं विचार कर रहा था कि इन्द्र ने इस सुन्दर स्त्री को पुनः मेरे मन में विकार उत्पन्न करने के लिए भेजा है। इस बार विकार उत्पन्न हुआ तो मेरी हंसी उड़ेगी। अतः मैं मेनका के प्रस्ताव को अस्वीकार करने का विचार कर रहा था। परन्तु वह मुझको चुप बैठे देख समझ बैठी कि मैंने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है। वह उठ

पड़ी और बोली, "तो आप स्वीकार करते हैं? मैं धन्यवाद करती हूं। कल प्रातः अल्पाहार के पश्चात् मैं आऊंगी और अपने वर्षों के अध्ययन से प्राप्त कौशल का परिचय आपको दूंगी।"

इतना कह वह मेरे उत्तर को जाने बिना ही वहां से चली गई।

मैं रातभर इस नवीन आयोजन का अर्थ समझने में लगा रहा। मुझको इसमें न तो कुछ लाभ प्रतीत हुआ न ही हानि। अतएव अगले दिन मेनका आई और मैं अन्यमनस्क भाव में उसके सामने बैठ गया। वह कपड़े पर पहले रेखाओं में और पीछे रंगों में मेरा चित्र बनाने लगी।

इस चित्र के बनाने में कई सप्ताह लग गये। मैं नित्य देवेन्द्र से मिलने जाता था। वहां संगीत-नृत्य से मन बहलाव होता रहता था। कभी-कभी सिद्धान्तात्मक रूप में किसी विषय पर बातचीत भी होती थी। कभी देवेन्द्र पूछ लेते, "चित्र कैसा चल रहा है?"

मेरा उत्तर होता था, "अपनी प्रिय अप्सरा से पूछ सकते हैं।"

"आप क्या समझते है कि आपको ठीक अंकित कर रही है वह?"

"चित्र के पूरा हो जाने पर ही कुछ कहा जा सकता है।"

अन्त में चित्र पूर्ण हुआ। चित्र बहुत ही सुन्दर और सत्य वास्तविक बना था। बहुत ही चतुराई से चित्रकार ने मेरी वृद्धता की रेखाओं को अंकित किया था। जहां मेरी वास्तविक आयु का प्रकटीकरण किया था वहां मेरे यौवन-काल का शेष सौन्दर्य भी चित्रपट पर आ गया था।

मैंने चित्रकार को उसके कौशल पर बधाई दी। इन्द्र ने भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। मेरा वह चित्र इन्द्र की चित्रशाला में लगा दिया गया।

: ३ :

जब मैं देवलोक से विदा होने लगा तो देवेन्द्र ने अपनी आज्ञा देने से पूर्व मुझसे पूछ लिया कि मैं अब क्या करने का विचार रखता हूं।

मैंने कहा, "यहां से मैं पांडवों के दर्षनार्थ काम्यक् वन को जाना चाहता हूं। वहां कुछ काल तक रहने का विचार है। यह तो पता चला ही है कि भारत-भर के साधु-संत, महात्मा वहां जा रहे हैं। मैं भी

उनके उपदेशों से लाभ उठाना चाहता हूं।

"ठीक है। आप वहां जायें। यह आपकी इच्छा पर है परन्तु मैं विचार करता हूं कि आप यहां से हस्तिनापुर चले जायें। वहां धृतराष्ट्र आपकी खोज कर रहे हैं। यह भी सम्भव है कि वह आपको काम्यक् वन में भेजना चाहेंगे और पांडवों का ठीक-ठीक समाचार आपके द्वारा जानना चाहेंगे। इस तरह आपकी इच्छा पूरी होगी और धृतराष्ट्र के चंचल मन को भी सांत्वना मिलेगी। सबसे बड़ी बात यह होगी कि दोनों ओर की मानसिक अवस्था का ज्ञान होगा।

मैं इन्द्र के इस कहने पर कि धृतराष्ट्र मुझको काम्यक् वन में भेजने का यत्न करेगा, विस्मय में इन्द्र का मुख देखता रह गया। इस पर देवेन्द्र कहने लगा, "कई दिन से वह आपके घर पर सेवक भेज कर आपका पता कर रहा है। आजकल कणिक पुनः वहां आ गया है और मन्त्रि-पद पर नियुक्त हो गया है। वह भी नित्य महाराज धृतराष्ट्र से मिलने जाता है। जहां तक हम जान सके हैं कौरव अब यह योजना बना रहे हैं कि अब पांडव वन से लौट ही न सकें।

"उनके मन में यह बात बैठ गई है कि भारत का पूर्ण विद्वद् समाज युधिष्ठिर के पक्ष में रहेगा और इस समाज के प्रभाव को निःशेष करने के लिए वह उस पक्ष को ही निर्मूल कर देना चाहता है।

"मैत्रेयजी के वहां जाकर दुर्योधनादि को डांटने-फटकारने का यह प्रभाव अथवा परिणाम हुआ है कि वे अब पांडवों को ही समाप्त कर देने का विचार रखते हैं। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।"

"बहुत दुष्टता पर तुल आये हैं वे सब!"

"हां, कणिक आ गया है न। यह वही महानुभाव है जिसने वारणावत का भवन बनवाया था। मैं चाहता हूं कि आप जाएं और अर्जुन आदि के मन में यह विश्वास बैठाने का यत्न करें कि युद्ध अनिवार्य है और उसकी तैयारी के लिए उनको दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति, जहां कहीं से भी हो सके, करनी चाहिए। केवल कथा-कीर्तन से कार्य नहीं चलेगा।

"दो कार्य अत्यावश्यक हैं। एक शक्ति का संचय और दूसरे, मित्र-संचय। भारत के क्षत्रिय-नरेशों से उनको सम्पर्क बनाना चाहिये।

साधुसंत, महात्माओं से सम्पर्क भी उन्हें रखना चाहिए। इनसे सम्पर्क भी एक साधन है। अन्तिम ध्येय, मित्र-संचय है।"

मैं समझ गया कि बिगड़े काम को पुनः सुधारने का यत्न आरम्भ हो गया है। अतः मैं वहां से चल हस्तिनापुर जा पहुंचा। इस बार मैं देवलोक से पैदल ही आया। मेरे शीघ्र हस्तिनापुर पहुंचने की आवश्यकता नहीं थी और मैं रमणीक हिमालय की शोभा देखने की इच्छा रखता था।

मैंने हस्तिनापुर पहुंच धृतराष्ट्र से मिलने की इच्छा प्रकट की। मुझको स्वीकृति मिल गयी। मैं महाराज के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्होंने पूछ लिया, "संजयजी! किधर रहे हैं इतने दिन? आपकी बहुत खोज की है। यहां से गंधमादन पर्वत पर भी दूत भेजा गया था और आश्रम को उजड़ा देख लौट आया है।"

मैंने बताया, "पिताजी का देहान्त हो गया है। आश्रम बन्द करना पड़ा है। वहां आश्रम का कार्य चलाने वाला कोई था ही नहीं। लड़के को यहां भेज, मैं कुछ काल के लिए हिमालय-भ्रमण के लिए चला गया था।"

"देखिये संजयजी! यहां मैं एक भारी मूर्खता कर बैठा हूं। विदुरजी के लिये मेरे मुख से कुछ कटु वचन निकल गये, जिससे वह हस्तिनापुर छोड़ पांडवों के पास चले गये हैं। मैं चाहता हूं कि आप काम्यक् वन में चले जाइये और वहां पर विदुरजी से मेरी ओर से क्षमा मांगिये। उनसे कहिये कि मैं अपने कहे पर पश्चात्ताप करता हूं, वे मेरे भाई हैं। अतः लौट आवें अन्यथा मेरे मन को संताप होता रहेगा।"

मैं मन में विचार कर रहा था कि धृतराष्ट्र भी दिन-प्रतिदिन कुटिल होता जा रहा है। मैं वह सब कुछ जो उसने विदुर को कहा था जानता था। इस पर भी मैं उस घटना से अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहने लगा, "महाराज! कुछ अधिक विवाद हो गया था क्या?"

"हां! मैंने उनको कह दिया था कि अब उन्हें यहां आश्रय नहीं मिलेगा। जहां चाहे वह जा सकते हैं। इस बात से रुष्ट होकर वह पांडवों के पास चले गये हैं।

"आप बात करने में बहुत चतुर हैं। इसलिये मैं चाहता हूं कि आप विदुर के पास जाकर उनको मनाकर ले आवें। पांडवों को भी कहना कि मुझको उनका कष्ट देखकर बहुत दुःख हो रहा है। परन्तु भाग्य के आगे मैं कुछ नहीं कर सकता।"

मैं अगले दिन ही काम्यक् वन को चल पड़ा। वहां पहुंचा तो पांडवों ने समझा कि विदुरजी की भांति मैं भी हस्तिनापुर से निकाल दिया गया हूं। अतः भारी चिन्ता प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने आदर-सत्कार से मुझको बैठाया और पूछा, "संजयजी! कुशल-मंगल तो है न?"

"मुझे महाराज धृतराष्ट्र ने आपका कुशल-मंगल जानने के लिये आपके पास भेजा है।"

"ओह! हम तो समझे थे कि विदुर जी की भांति आपको भी वहां से निकाल दिया गया है। सुनाइये बाल-बच्चे कैसे हैं?"

मैं विदुरजी से पृथक् में मिला तो मैंने अपने आने का कारण उनको बता दिया। इस पर विदुरजी ने कह दिया, "जूए का धन उसके पेट में चला गया है। इसी कारण उसकी मति भ्रष्ट हो गई है। उसको मुझसे क्षमा मांगने के स्थान युधिष्ठिरादि से क्षमा मांगनी चाहिए थी।"

"इस पर भी मेरा विचार है कि आपको चलना चाहिये। वहां चलकर और धृतराष्ट्र से मिलकर, पांडवों की निरन्तर प्रशंसा कर दुर्योधन को निस्तेज तो किया जा सकता है। यदि कोई शान्ति का साधन हाथ में आया तो उसका प्रयोग भी करना ही चाहिये।"

"संजयजी! हमें आप कहते हैं तो चलूंगा, परन्तु मुझको अब विश्वास हो गया है कि यह चक्षुविहीन हमारा भाई मतिविहीन भी हो गया है। इससे किसी प्रकार के भी शुभ की अब हमको आशा करनी बबूल से आम की आशा करने के समान है।"

"विदुरजी! हमें चलना चाहिये। हमारा कार्य वहां पर है। युधिष्ठिरादि का भी यहां पर पड़े रहने से कुछ बनेगा नहीं। ये अपना समय व्यर्थ गँवा रहे हैं।"

इसके पश्चात् विदुरजी हस्तिनापुर लौटने के लिये तैयार हो

गये। इस समाचार को सुन तो पांडवों ने विस्मय से मेरा मुख देखा। मैंने उनको पृथक् में ले जाकर समझाने का यत्न किया। मेरा कहना था—"मैंने अन्तर्ध्यान से कुछ बात जानी हैं और उनके अनुरूप ही अपना, विदुरजी का तथा आपका व्यवहार चलाने के लिए यहां आया हूं।"

"देखिये धर्मराज !" मैंने कह दिया, "आपके ये तेरह वर्ष वनवास के व्यतीत होने से पूर्व यदि आपको मार न डाला गया, तो युद्ध होगा। दूसरी ओर से युद्ध की तैयारियां अभी से आरम्भ हो गयी हैं।

"इधर आपकी ओर से मूल्यवान समय भजन-कीर्तन में व्यय किया जा रहा है। अतः मैं आपके सम्मुख यह सुझाव उपस्थित करने के लिये आया हूं कि आप इस काल का सदुपयोग यह विचार कर करें कि आपने इस वनवास के काल में कौरवों के किसी षड्यन्त्र में नहीं फँसना। दूसरे, तेरह वर्ष व्यतीत होने पर भी कौरव आपका राज्य वापस नहीं करेंगे। तीसरे, उस युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य सब वृद्ध-जन आपके विरुद्ध ही लड़ेंगे।

"मैंने और विदुरजी ने यह निश्चय किया है कि हम हस्तिनापुर में कौरवों के सहायकों के मन में आपके प्रति सद्भावना उत्पन्न करने का यत्न करें। इससे वे आपसे युद्ध करते हुए भी उस उत्साह से युद्ध नहीं कर सकेंगे जिससे कौरव करना चाहते हैं।

"इधर आपको उस युद्ध में द्रोणादिक से अधिक श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने का भी यत्न करना चाहिए।

"हम अपना कार्य करने के लिये हस्तिनापुर को जा रहे हैं।

हमारे वहां से विदा होने से पूर्व ही श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न, सुभद्रा और उसका लड़का अभिमन्यु आ पहुंचे। उनको आया देख उनके आदर-सत्कार का कार्य मुझको सौंप दिया गया। ये लोग विश्राम कर रहे थे, जब द्रौपदी सुभद्रा सहित श्रीकृष्ण के पास आई और अपना संचित दुःख प्रकट करने लगी।

द्रौपदी ने कहा, "भैया ! लोग तुमको भगवान् का अवतार मानते हैं। तुम अपराजित हो और सब पर विजय प्राप्त करने वाले हो।

इस पर भी अपनी बहन का ऐसा अनादर और अपमान कैसे सहन कर रहे हो ? मुझको बहुत गर्व था—अपने पांच शूरवीर पतियों पर, इनकी धर्मपरायणता पर, इनके गांडीव धनुष और गदा पर। परन्तु उस समय ये सब धरे के धरे रह गये। न जाने इनको क्या हो गया ? जब इनकी पत्नी को बालों से पकड़कर घसीटते हुए सभा में लाया गया, उस समय मैं अपने को पांच पतियों वाली पत्नी होते हुए भी विधवा से भी गयी-गुजरी समझ रही थी।

"ये तो जुए में अपनी मति खो चुके थे। परन्तु भैया ! तुमको तो अपनी बहन की लाज बचानी थी। मैं उस समय रजस्वला थी। केवल एक वस्त्र पहने थी। उस समय इनके दुष्ट भाई दुःशासन ने मुझको भरी सभा में नग्न करने का यत्न किया। इस पर भी तुम देखते रहे और तुम्हारा सुदर्शन चक्र निस्तेज हुआ अपने खोल में मुख छिपाये पड़ा रहा।

"अब मैं पांच शूरवीरों की पत्नी तथा वासुदेव और धृष्टद्युम्न की बहन इस प्रकार वन में असहाय पड़ी हूं।

"मैं आश्चर्य तो इस बात पर कर रही हूं कि तुम लोग लज्जा से अपना मुख क्यों नहीं छिपा लेते।"

द्रौपदी खुले बालों से श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न और सुभद्रा के सामने बैठी रो रही थी। रोते-रोते उसकी कंचुकी भीग गई थी। जब उसका रुदन असह्य हो गया तो कृष्ण ने हाथ खड़ा कर सांत्वना देते हुए कहा, "बहन ! संजयजी स्वेच्छा से मुझको लेने के लिये द्वारिका गये थे। परन्तु मैं उस समय शाल्व से युद्ध में व्यस्त था। शाल्व शिशुपाल का परम मित्र था। अपने मित्र के मारे जाने का समाचार पा वह दल-बल सहित द्वारिका पर चढ़ आया था। मुझे कई दिन तो उसको परास्त करने में लगे। तत्पश्चात् यादवों और नटों के युद्ध के कारण मार्ग अवरुद्ध था। इस कारण हस्तिनापुर पहुंचने में विलम्ब हुआ। मेरे पहुंचने से पूर्व ही सब समाप्त हो चुका था। जब दुःशासन तुमको घसीटता हुआ सभा-भवन की ओर ले जा रहा था, मैं तब ही वहां पहुंचा था। उसके तुमको नग्न करने के प्रयास को तो मैंने संकेत से ही रोक दिया था, पर जहां तक तुम्हारे जीते जाने की बात थी वह

युधिष्ठिर अथवा किसी अन्य को जो वहां उस समय उपस्थित था करनी चाहिये थी। मैंने उस समय युधिष्ठिरादि को संकेत किया, परन्तु वे उस समय मेरी ओर नहीं देख रहे थे। वे कुछ कहते भी नहीं थे। इस समय मुझको विदुरजी का स्मरण हो आया। उस भरी सभा में वह ही एक व्यक्ति था, जो तुम्हारे पक्ष में बोल सकता था। उसको मैंने संकेत किया तो वह बोला और जो कुछ उस समय हो सका, वह उसी महात्मा के करने से ही हो सका है।

"बहन, यह धर्म और न्याय की बात थी। यह तो युधिष्ठिर के मुख से ही शोभा पाती थी। कोई भी बाहरी व्यक्ति, इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। युधिष्ठिर के बाद वहां पर बैठे हुए दर्शकों में से ही कोई पूर्ण व्यवहार पर आपत्ति उठा सकता था। वह विदुरजी ने की थी।

"मैंने और संजयजी ने तो दूसरे दिन ही युधिष्ठिर से कहा था कि वह इस खेल को छल-कपट घोषित कर दे और इन्द्रप्रस्थ में जाकर अपना राज्य सम्भाले। परन्तु तुम्हारे धार्मिक पति वचन को धर्म का सत्य और प्रधान अंग मानते हैं। ऐसी अवस्था में मैं कुछ नहीं कर सका।

"मैं अब भी कहता हूं कि उस द्यूत-क्रीड़ा में जो कुछ हुआ, अधर्म था। वह छल था। अतः तुम लोगों को वन में भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं।

"यह ठीक है कि हस्तिनापुर से द्यूत-क्रीड़ा के पश्चात् राज्य लेने जाते अथवा अब भी जब अपना राज्य लेने के लिए जाएंगे तो बिना युद्ध के यह सम्भव नहीं है। परन्तु उनको भी यह समझ लेना चाहिये कि तेरह वर्ष के वचन-पालन के पश्चात् भी युद्ध के बिना राज्य प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः युद्ध आवश्यक-सा हो गया है। जब भी वे यह करेंगे मेरी पूर्ण शक्ति और प्रभाव तब अथवा अब तुम्हारे पक्ष में रहेगा। अब तो तुम्हारे पतियों के करने की बात है।"

इस समय पांडव और विदुरजी वहां आ गये। कृष्ण ने अब उनको सम्बोधन करके कह दिया, "धर्मराज! बहन द्रौपदी मुझको उपालम्भ दे रही है कि मैं कैसे उसके अपमान की बात अब तक सहन किये

रहा हूं। मैंने इसको बताया है कि यह बात उसके पतियों के करने की है। तुमको अभी घोषणा कर देनी चाहिए कि तुम्हारा धन और राज्य छल-कपट से जीता गया है। साथ ही अभी इन्द्रप्रस्थ को चल पड़ो। मैं विश्वास दिलाता हूं कि पूर्ण देश तुम्हारी सहायता के लिए जुट पड़ेगा।"

इसके बाद कृष्ण ने पुनः द्रौपदी को कहा, "भवानी ! मैं तुमको बता देना चाहता हूं कि जिन लोगों ने तेरा अपमान किया है, उनकी स्त्रियां अपने प्रिय पतियों को अर्जुन के बाणों से बींधे हुए और रक्त से लथपथ, मरे हुए धरती पर पड़ा देख, तुमसे भी अधिक रुदन करेंगी। यह सब होगा।

"मैं यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि तुम राजरानी बनोगी। कृष्णे ! चाहे आकाश फट जाये, धरती टूक-टूक हो जाये और सागर सूख जाये परन्तु मेरी यह बात झूठ नहीं हो सकती।"

इस वीरता-भरी प्रतिज्ञा को सुनकर अर्जुन ने गांडीव धनुष को पकड़कर कहा, "शुभे ताम्राक्षिः ! भगवान् मधुसूदन ने जो कुछ कहा है, वह अवश्य ही होकर रहेगा। टल नहीं सकता।"

युधिष्ठिर ने शांत भाव से कहा, 'प्रिय द्रौपदी ! तुम क्या समझती हो कि मैं आंखें खो चुका हू ? मैं सब कुछ देख रहा हूं। परन्तु इन सबके करने का अभी समय नहीं आया। एक वचन हुआ है। उसकी अवधि अभी पूरी नहीं हुई। वह होने दो और फिर देखोगी कि पाप अपने सब सहयोगियों को लेकर डूब जायेगा।"

इसके पश्चात् कृष्ण ने वही कुछ कह दिया, जो इन्द्र ने मुझको कहने के लिए भेजा था। कृष्ण ने कहा, "एक स्थान पर टिके रहना ठीक नहीं। घूमते रहो। अपने मित्र और सहायक बनाओ। ये तेरह वर्ष का अवसर दुर्योधन व्यर्थ नहीं गंवाएगा। वह तुम लोगों को बदनाम करने का पूर्ण यत्न करेगा। यह भी सम्भव है कि तुमको कहीं असहाय पड़ा देख सेना लेकर आ जाए, तुम सबको मार डालने का यत्न करे।"

कृष्णादिक गए तो मैं विदुरजी को लेकर हस्तिनापुर चला आया।

: ४ :

विदुरजी के धृतराष्ट्र के सम्मुख उपस्थित होने पर धृतराष्ट्र फूट-फूटकर रोया और उससे गले मिला। उसने कहा, "भैया, मुझसे भूल हो गई थी। दो भाइयों में किसी विषय में मत-भेद विग्रह का कारण नहीं होना चाहिए। तुम्हारे चले जाने के पश्चात् मुझको पता चला कि पांडु की पत्नी कुन्ती तुम्हारे घर पर है तथा वह और तुम्हारी पत्नी संजयजी की पत्नी उर्मिला के आश्रय पल रही है।

"अब तुम जाओ और अपने घर की व्यवस्था देखो। राज्य की ओर से तुम्हारे निर्वाह के लिए धन यथापूर्व मिलता रहेगा।"

विदुरजी और मैं जब राज-प्रासाद से बाहर आए तो विदुरजी क्रोध से लाल-पीले हो रहे थे। उन्होंने कहा, "संजय! यह व्यक्ति झूठ बोलने लगा है। यह छल-कपट भी खूब सीख गया है। यहां तक कि कृत्रिम आंसू बहाने लगा है। इसका अब भरोसा करना भययुक्त है।"

"ठीक है भैया! परन्तु हमें इनसे मिलते रहना चाहिए। इनको सुमति देते रहना चाहिए। इस निरन्तर के उपदेश से हम इनकी आत्मा को दुर्बल करते रहेंगे।"

"कुछ फल नहीं निकलेगा।"

"निकलेगा, जब फल का समय आएगा। समय से पूर्व हमें फल की आशा भी नहीं करनी चाहिए।"

इन दिनों एक घटना और घटी। दुर्योधन ने पूर्ण प्रजा की आर्थिक अवस्था जानने के लिए घर-घर पूछ-ताछ करनी आरम्भ कर दी थी। इस सम्बन्ध में राज्य कर्मचारी, जब मैं देवलोक में था मेरी पत्नी से भी पूछने के लिए आये थे।

वे कर्मचारी यह जानने का यत्न कर रहे थे कि किस घर का कितना व्यय है और उनके आय के साधन क्या-क्या हैं। उर्मिला ने जितना वह जानती थी, बता दिया। हमारी प्रत्यक्ष में किसी प्रकार की आय न होते हुए भी व्यय पर्याप्त था। पचास स्वर्ण तो भोजन आदि पर व्यय होता था। इसके अतिरिक्त दो रथ थे। एक सारथी रहता था। घर पर दो सेवक थे। घर में सामान भी किसी धनाढ्य

से कम नहीं था।

जब मेरी पत्नी से पूछा गया कि यह मन्त्र कहां मे आता है तो उसने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानती। मुझको पचास स्वर्ण प्रतिमास रसद-पानी के लिए मिल जाते हैं। वे ये स्वर्ण कहां से लाते हैं और कहां से नहीं लाते, मैं नहीं जानती।"

घर पर सामान और भूषणादि भी पूछे गए। उर्मिला ने सब कुछ लिखा दिया। यह सब कुछ तब हुआ था जब मैं देवलोक में था। वहां से लौटते ही उर्मिला ने मुझको यह सब बताया था, परन्तु अगले ही दिन मैं विदुरजी को लेने के लिए चला गया था। जब वहां से लौटा तो मैं उर्मिला की बात को भूल चुका था।

एक दिन मुझको कणिक का आज्ञापत्र मिला कि मैं उपस्थित हो अपने आय-व्यय का विवरण दूं।

मैं कणिक के सामने उपस्थित हुआ और उसके प्रश्नों का उत्तर देने लगा। मुझसे पूछा गया, "संजयजी! आपकी पत्नी ने बताया है कि उसको आप पचास स्वर्ण प्रतिमास रसद-पानी के लिए देते हैं। इसके अतिरिक्त आपके घर पर रथ है, सारथी है, घोड़े हैं और वस्त्रादि भूषण भी हैं। इन सबके लिए आपके पास धन कहां से आता है?"

"मैं ब्राह्मण हूं। लोग मुझको धन देते हैं।"

"उन सबके नाम बताइए जो आपको धन दिया करते हैं।"

"मैं नहीं बताऊंगा।"

"परन्तु यह आज्ञा है कि सब लोग बतायें।"

"यह आज्ञा धर्म-युक्त नहीं है। दान देने वाले अपना नाम नहीं बताया करते।"

"राज्य में कर लगाने के लिए इसके ज्ञान की आवश्यकता है।"

"मैं कोई व्यापार नहीं करता। पठन-पाठन के कार्य पर किसी तरह के कर की कभी व्यवस्था रही नहीं। इस कारण मुझको बताने की आवश्यकता नहीं।"

"परन्तु आपका खर्चा इतना अधिक है कि मन्त्री भी उतना नहीं कर सकते। हमारा यह अनुमान है कि आपका सब प्रकार का खर्चा पांच सौ स्वर्ण से कम नहीं। इतना तो राज्य के मन्त्री को भी नहीं

मिलता।"

"जब मैं महाराज का शिक्षक था तो दो सहस्र स्वर्ण मासिक वेतन पाता था। मुझको ज्ञात नहीं था कि आपको इतना कम मिलता है। मुझको इसका शोक है।"

"शोक की बात जाने दीजिए। अब आप कृपा करके यह बतायें कि किस महाराज के बच्चों को आप पढ़ाते हैं, जो इतना धन आपको मिला करता है।"

"राज्य को यह पूछने का अधिकार नहीं है।"

"तो यह माना जाएगा कि आप चोरी करते हैं।"

"तो पकड़ लो और मुझ पर चोरी का अभियोग चलाकर देख लो?"

बात दुर्योधन और धृतराष्ट्र तक गई। मुझको महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख उपस्थित किया गया। वहां भी मैंने वही उत्तर दिया जो कणिक को दिया था। महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख दुर्योधन ने आज्ञा दे दी कि मेरी आय संदिग्ध उपायों से होती है, इस कारण मेरे घर की सब सम्पत्ति राज्याधिकार में ले ली जाए।

धृतराष्ट्र ने कहा, "संजयजी! राज्य की आज्ञा तो माननी ही पड़ती है।"

"हां महाराज! साथ ही राज्य को धर्मानुकूल आज्ञायें ही देनी चाहिएं। यदि राज्य धर्म का उल्लंघन करता है तो राज्य की आज्ञा अमान्य हो जाती है।"

"तो अब क्या करेंगे?"

"एक शान्तिप्रिय ब्राह्मण की भांति चुपचाप सब कुछ राज्य को ले जाने दूंगा।"

"इससे समस्या सुलझ जायेगी क्या?"

"राजन्!" मैंने तनिक बलपूर्वक कहा, "राज्य का अन्यायाचरण ठीक करना एक ब्राह्मण का काम नहीं। इस पर भी ब्राह्मण अन्यायाचरण को सहन नहीं करता। वह इसका मौखिक विरोध करता है। भगवान के ढंग निराले हैं और वह ही इसको ठीक करने में सबल है।"

धृतराष्ट्र चुप कर रहा । मैं वहां से लौट आया । परन्तु मेरे घर पहुंचने से पूर्व ही मेरे घर पर राज्याधिकारी पहुंच चुके थे और मेरा सब कुछ अपने अधिकार में कर चुके थे ।

मेरा पूरा सामान मेरे घर के पास ही विक्रय कर दिया गया । मेरी पत्नी के आंसू निकल रहे थे । मेरा लड़का और उसकी बहू भी रो रहे थे । मैंने उनको शान्त किया और चुपचाप घर के सामान की बिक्री होती देखता रहा ।

पलंग, चौकियां, बिस्तर तथा वस्त्र, भूषण आदि, नकद स्वर्ण के अतिरिक्त जो कुछ था, सब बेच दिया गया और सब धन एकत्र कर वे चल दिये ।

मेरी पुस्तकें थीं उनकी भी बोली बोल दी गई । वे मैंने स्वयं ऊंची बोली देकर क्रय कर लीं । जब राज्याधिकारी चले गये तो मैं अपनी पुस्तकें उठा घर में ले गया ।

अगले दिन ही बढ़ई बुलाकर, मैंने पुस्तकें रखने के लिए संदूक इत्यादि बनवा लिए ।

इस प्रकार सामान बिक जाने के तीन-चार दिन के पश्चात् मुझको सेवक द्वारा महाराज धृतराष्ट्र ने बुला भेजा । मैं गया तो वहां विदुर जी बैठे थे । मैंने प्रणाम किया तो धृतराष्ट्र ने पूछ लिया, "कितने का बिका है, आपका सामान ?"

"मुझको ज्ञात नहीं महाराज । हां, मुझको यह विदित है कि कितने का बना था ।"

"तो गिनती की है ?"

"हां महाराज ! मैंने उस सामान की सूची बनाकर उस पर मेरा जो व्यय हुआ है, उसका अनुमान लगाया है । मेरा लगभग पांच सहस्र का सामान था । नकद, स्वर्ण तथा भूषण पृथक् थे ।"

"हमको विस्मय होता है कि इतना आपके पास आया कहां से ।"

"आप जैसे श्रीमानों के घर आना-जाना है और उन सबसे मिलता है ।"

"तो उन श्रीमानों के नाम बता दो न ?"

"एक तो आप हैं ही । इसके अतिरिक्त महाराज युधिष्ठिर थे ।

अन्य भी बहुत हैं। मैं सब के नाम बताना नहीं चाहता, न ही दाताओं ने बताने की स्वीकृति दे रखी है। यह सब गुप्त-दान ही समझना चाहिए।"

"अब क्या करोगे ?"

"कुछ नहीं। देने वाले दाता तो आज भी आए थे और कुछ निर्वाह योग्य दे भी गए हैं।"

"देखिये संजय जी, राज्य में चोर, डाकू, झूठा व्यापार करने वाले बहुत हो गए हैं। उनको पकड़ने का उपाय किया गया है। आपने संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। इस कारण आपको दंड दिया गया है।"

"ठीक है महाराज ! मैंने कोई अपने साथ इस अन्यायाचरण के सुधार की प्रार्थना नहीं की।"

"इसी पर तो हमको विस्मय हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपको कहीं से भारी आय है, जिसके कारण आपकी इतनी सम्पत्ति छिन जाने पर भी आपको चिन्ता नहीं हो रही है।"

"महाराज ! मुझको चिन्ता तो है, परन्तु स्वयं के विषय में नहीं, प्रत्युत उस राज्य के विषय में जिसने यह अन्यायाचरण किया है।"

"परन्तु उस चिन्ता में कर क्या रहे हो ?"

"भगवान से प्रार्थना करता हूं कि राज्य के इन मूर्ख अधिकारियों को सुमति दें, जिससे ये न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म के भेद को समझने के योग्य बनें।"

"परन्तु आप बताते क्यों नहीं कि वह कौन व्यक्ति है जो आपको यह सब देता है।"

"मैं उसका नाम कणिक-जैसे दुरात्मा को बताना नहीं चाहता।"

"परन्तु हमको तो बता सकते हैं।"

"हाँ। परन्तु एक शर्त पर। वह यह कि किसी को बताइयेगा नहीं।"

"अच्छा नहीं बतायेंगे।"

"तो महाराज ! वह है साक्षात, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक

भगवान नारायण। वही आपको भी देते हैं।"

"हमसे हँसी कर रहे हो संजयजी ?"

"नहीं महाराज ! मेरे पास इसका प्रमाण है।"

"ओह ! तो वह प्रमाण भी हमारे सामने उपस्थित करोगे ?"

"निःसन्देह ! यदि आप इस वार्तालाप को गुप्त रखने का वचन दें।"

"और यह भी प्रमाण देंगे कि वह नारायण हमको भी देता है।"

"हां महाराज ! आप दुःशासन को बुलाइए तो मैं इसका एक प्रमाण अभी दे सकता हूं।"

इस पर धृतराष्ट्र गम्भीर विचार में पड़ गया। वह मेरे कहने का अर्थ नहीं समझ सका। कुछ विचार कर उसने ताली बजायी। प्रतिहार उपस्थित हो गया तो उसे दुःशासन को बुलाने की आज्ञा दी गयी।

विदुरजी भी बात समझ नहीं रहे थे। वास्तव में वे भी नहीं जानते थे कि मैं देव-लोक से धन पाता हूँ। देव-लोक के कुछ लोग हस्तिनापुर में रहते थे। वे मुझको धन देते रहते थे। आज प्रातःकाल भी मैं उनसे पचास स्वर्ण घर के खर्च के लिये लाया था।

दुःशासन आया तो महाराज के कहने पर मैंने उससे पूछा, "राजकुमार ! जब तुम द्रौपदी की साड़ी उसको नग्न करने के लिए खींच रहे थे और महाराज दुर्योधन तुमको कह रहे थे कि इस वेश्या को नग्न कर दो, तो तुमने उनको नग्न क्यों नहीं किया था ?"

"मेरे हाथों में कपडा खींचने की शक्ति ही नहीं रही थी। मैं बहुत यत्न करता था, परन्तु हाथों को पक्षाघात मार गया था।"

"ऐसा क्यों हो गया था ?"

"मैं बता नहीं सकता। किसी ने मेरे हाथ तो पकड़े नहीं थे। इस पर भी मैं वस्त्र खींच नहीं सका था।"

"महाराज !" मैंने कहा, "इसकी बांहों की शक्ति खींचने वाला स्वयं साक्षात् भगवान था। मैं उसको देख रहा था, परन्तु वह इनमें से किसी को दिखाई नहीं दे रहा था। एक बात और है महाराज ! वह साक्षात् लक्ष्मीपति नारायण अपनी गदा उठाकर दुर्योधन का सिर

फोड़ने को तैयार खड़ा था। केवल उस समय वह युधिष्ठिर की ओर देख रहा था कि एक बार वह कह दे कि उसके साथ छल हुआ है। युधिष्ठिर यह कह देता तो महाराज! यह सत्य जानिए कि वह अपनी गदा से दुर्योधन का सिर चूर-चूर कर देता।

"वही भगवान मुझको नित्य दे जाता है और मैं उससे निर्वाह करता हूं।"

"तो नारायण आपको यह सब क्यों दे जाता है?"

"मैं उसका दिन-रात का सेवक हूं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं आपको दिन-रात सन्मार्ग दिखाता रहूं। आप चक्षु-विहीन हैं। वह चाहते हैं कि आपको पीछे यह कहने का अवसर न मिले कि आपको इस सब का ज्ञान नहीं था।"

"यह सब व्यर्थ है।" धृतराष्ट्र ने कह दिया, "दुर्योधन को कहकर आपको मैं हस्तिनापुर से बाहर निकलवा दूंगा।"

"राजा दुर्योधन के कहने की क्या आवश्यकता है महाराज! आप आज्ञा दीजिए तो मैं स्वयं ही चला जाऊंगा।"

"तो कब जाइयेगा।"

"जब आप आज्ञा दें। एक क्षण के कहने पर चला जाऊंगा।"

"अच्छी बात है। हम आपको अपनी आज्ञा लिखित भेजेंगे।"

मैंने प्रणाम किया और चला आया।

मैं अपने देश-निर्वासन के लिए अपनी पुस्तकें बांध तैयार हो गया। मैंने दो रथ भी मोल ले लिए जिन पर पुस्तकें और परिवार को ले जा सकूं। इस पर भी आज्ञा नहीं आई। मैंने एक दिन विदुरजी से पूछा भी, "तात्! मेरे आने के पश्चात् महाराज ने क्या आज्ञा दी थी।"

विदुरजी ने बताया, "वे मुझसे पूछने लगे तो मैंने उनको बताया कि यह धर्मानुकूल नहीं कि राज्य इस प्रकार की जांच करे। विशेष रूप से ब्राह्मणों को लोग गुप्त दान दे जाते हैं। वे बताकर यजमानों से विश्वासघात नहीं कर सकते।"

"तो फिर चोरी किए धन का पता कैसे लगे?" महाराज का प्रश्न था।

मैंने बताया, "जिसका धन चोरी गया है उसके पहचानने से अथवा चोरी का प्रमाण मिलने से। केवल मात्र सन्देह पर किसी को दण्डित नहीं किया जा सकता।

"आपके नारायण की शक्ति पर भी विचार हुआ। दुःशासन से दुर्योधन के सम्मुख पुनः पूछा गया कि उसको द्रौपदी की साड़ी खींचते समय क्या हो गया था ? इस पर उसने पुनः उसी बात का उल्लेख कर दिया।

"इसके पश्चात् दुर्योधन ने बताया कि कणिक का विचार है कि आप पारस से सोना बनाना जानते हैं। मुझसे इस विषय में भी पूछा गया। मैंने इस बात का खण्डन अथवा समर्थन नहीं किया। इस पर धृतराष्ट्र का कहना था कि राज्य को धन की बहुत आवश्यकता है। आपको इस विद्या से राज्य की सहायता करनी चाहिए।

"मैंने बताया कि महाराज, एक विद्वान ब्राह्मण को आप विवश नहीं कर सकते। यदि आप अपने को अधिकारी सिद्ध करें तब वे यदि कोई ऐसी विद्या जानते हैं तो आपकी सहायता कर सकते हैं।

"यह सब सुनकर महाराज को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने दुर्योधन को आज्ञा दी है कि आपको देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाए।"

"इस पर भी आज्ञा अभी तक नहीं आई।"

: ५ :

अतः जीवन पुनः शान्त तथा सरस चलने लगा। मैं पुनः धृतराष्ट्र से मिलने के लिये जाने लगा। विदुरजी भी प्रायः उससे मिलने के लिए जाया करते थे। हम दोनों उसको धर्मोपदेश दिया करते थे। यह बात हमको कि दुर्योधन पांडवों की टोह लेता रहता है, पता थी। जब-जब भी कोई समाचार लेकर आता, वह समाचार धृतराष्ट्र को मिलता और हमको भी प्राप्त हो जाता।

हमको पांडवों से मिले तीन वर्ष से ऊपर हो चले थे। उनके समाचारों से हमको विदित हो रहा था कि वे आनन्द एवं सुखपूर्वक हैं।

एक दिन दलभ पुत्र महर्षि वक द्वैतवन से आये तो उन्होंने द्वैतवन में पांडवों का समाचार दे दिया। दुर्योधन भी उस समय महाराज के पास

उपस्थित था। महर्षि ने बताया, "महाराज ! पांचों पांडव और द्रौपदी अलौकिक कान्ति से देदीप्यमान, जब से द्वैतवन में पहुंचे हैं, वह वन ब्राह्मणों से भर गया है। पूर्ण वन दिन-रात वेद-मंत्रों के गान की ध्वनि से गूंजता रहता है। वह तपस्वी ब्राह्मणों के होम करने से सुगन्धि से भरा रहता है।

"ब्राह्मणों के अतिरिक्त महर्षि मारकण्डेय, भार्गव, अंगिरस, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य इत्यादि अनेकों महापुरुष वहां जाते हैं और पांडवों को सदुपदेश देकर उन्हें कृत-कृत्य कर रहे हैं।"

इस पर दुर्योधन ने पूछ लिया, "इन सब लोगों का खाना-पीना कहां से चलता है। क्या वे सब ब्राह्मण और ऋषि-महर्षि अपने-अपने साथ भोजन सामग्री लेकर ही आते हैं ?"

"महाराज ! भगवान सबके खाने का प्रबन्ध करता है। सैंकड़ों लोग वहां नित्य जाते हैं और महारानी द्रौपदी सब को भोजन कराने के पश्चात् स्वयं खाती हैं। वहां कोई भूखा नहीं सोता।"

"बहुत विचित्र है ! वह भगवान हमको दिखाई क्यों नहीं देता ? एक इनको" दुर्योधन ने मेरी ओर संकेत किया, "नित्य स्वर्ण देने के लिये आता है और एक द्रौपदी को अनाज आदि देने के लिए आता है।

"हम एक विस्तृत राज्य के स्वामी होते हुए भी भोजन-सामग्री का अभाव अनुभव कर रहे हैं। हमारे मन्त्री-गण कह रहे हैं कि हमारे राज्य में जनसंख्या बढ़ रही है और यह भूमि सबके लिये धन पैदा नहीं कर सकती।"

महर्षि बक हंस पड़े। हंसकर उन्होंने कह दिया, "राजा दुर्योधन ! नाच न जाने आंगन टेढ़ा। जो नृत्य नहीं कर सकते, वे आंगन पर दोष देकर छुटकारा पाने का यत्न करते हैं।

"देखो राजन् नीति में यह लिखा है कि—

"जब ब्राह्मण क्षत्रियों से और क्षत्रिय ब्राह्मणों से मिल जायें तो प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रुओं को भस्म कर देते

हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर पूर्ण वन को जला देते हैं ।[1]

"इहलोक और परलोक पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले राजा किसी ब्राह्मण को साथ लिए बिना अधिक काल तक नहीं रहे । जिसे धर्म की और अर्थ की शिक्षा मिली हो तथा जिसका मोह नाश हो गया हो, ऐसे ब्राह्मण को पाकर राजा अपने शत्रुओं का नाश कर सकता है ।[2]

"अतः महाराज, वहां पांडव क्षत्रिय-बल से परिपूर्ण ब्राह्मणों की संगत में रहते हैं । अतः वहां तो त्रिलोकी की विभूति उनके पग चूमने आती है । भोजन की कौनसी बात है !"

महर्षि तो चले गए । परन्तु धृतराष्ट्र हम दोनों पर बरस पड़े । उन्होंने मुझको और विदुरजी को सम्बोधित करके कहा, "आप दोनों अपने को ब्राह्मण और वेद-वेदाग में पारंगत मानते हैं और फिर भी यहां पर दुर्भिक्ष की अवस्था विद्यमान है । क्या मैं समझूं कि आप ब्राह्मण ही नहीं, केवल ढोंग कर रहे हैं ?"

विदुर ने बहुत ही शांत भाव से कह दिया, "महाराज ! आप तो जानते ही है कि मैं दासी पुत्र हूं । मैं वेद पढ़ जाने पर भी अपने को भला ब्राह्मण कैसे कह सकता हूं ? मैंने कभी अपने को ब्राह्मण कहा भी नहीं । महाराज, यह आपको भ्रम हो गया है कि मैं ब्राह्मण हूं । मैं तो कुरु-वंशियों की दासी का दास-पुत्र मात्र हूं ।"

मैं चुप रहा । इस पर दुर्योधन कहने लगा, "बात तो महर्षिजी ठीक ही कह गये हैं । हमारे यहां मन्त्री बुद्धिमान नहीं हैं । जीवन-भर में कणिक की एक ही बात ठीक हुई है । वह द्यूत-क्रीड़ा से हमारा लाभ होने की बात थी । इसके अतिरिक्त तो उसके शेष कार्य असफल ही हुए हैं ।"

"परन्तु महाराज !" अब मैंने कह दिया, "बकजी यह भी तो कह गए हैं कि उस वन में वेद-मन्त्रों के गान की ध्वनि गूंजती रहती है ।

---

१. ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानिवाग्नि मारुतौ ॥

२. नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषेदिच्छन्निमं लोकमंछ जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥

प्रश्न तो यह है कि आपके भवन में अथवा देश के नगरों में, कभी वेद-गान हुआ भी है ? कभी यहां हवन की सुगन्धि का आभास भी होता है।

"राजा, राजकुमार, रानियां तथा प्रजा-गण मध्य-रात्रि के पीछे तक तो तमद्य, मांस, वेश्या-नृत्य में लीन रहते हैं और दिन चढ़े तक साये रहते हैं। घर-घर में असंतुष्ट स्त्रियां दिन निकलते ही पतियों को गालियां देती हैं। अतृप्त संतान अपने माता-पिता को जो अपना धन व्यर्थ के व्यसनों में व्यय कर देते हैं, कोसते रहते हैं। सभी पुरुष रातें विषय-वासना में व्यतीत करते हैं और दिन-भर सोये रहते हैं। इस कारण जीविकोपार्जन के कामों में मन नहीं लगा सकते।

"भला कसी अवस्था में राज्य में श्री की उपलब्धि कैसे हो सकती है ?"

"तो आप क्या उपाय बताते हैं ?" धृतराष्ट्र ने पूछ लिया।

"महाराज ! कुछ काल तक इन्द्रप्रस्थ में, जब युधिष्ठिर वहां के राजा थे, राजप्रासाद के एक कक्ष में मुझको निवास मिला था। पूर्ण राज-प्रसाद ही प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में ही वेदगान-ध्वनि से गूंज उठता था तथा हवन-यज्ञ की सुगन्धि से भर जाता था। उस समय से पूर्व ही सब बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ही जागकर स्नानादिक नित्य- कर्मों से निवृत्त हो पूजा तथा ध्यान में लग जाते थे। महाराज ! यही नहीं, पूर्ण नगर में ही 'ओं स्वाहा' 'ओं स्वाहाः' के उच्चारण सुनाई देने लगते थे।

"नित्य सूर्योदय से पूर्व हवन-सन्ध्या से निवृत्त हो लोग मन्दिरों में कथा-कीर्तन सुनने के लिये चले जाते थे। राजभवन में जब तक मैं रहा था, वहां उपनिषद् की कथा करने का सौभाग्य मिलता रहा था। इस कथा को सुनने के लिए सभी, जो राजप्रसाद में रहते थे; महाराज युधिष्ठिर से लेकर प्रासाद की भंगन तक, सुनने के लिए आते थे। कथा के पश्चात् जब शान्तिपाठ करता तो सब उपस्थितगण मेरे साथ यह उच्चारण करते थे—

अ३म् आप्यायन्तु ममँगानि वाक्प्राणश्चक्षः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रयाणि च सर्वाणि।

"इसकेपश्चात् भगवान् से ऐसी प्रार्थनाकर सबलोगअपने जीविको-

पार्जन में लग जाते थे। रात को कथा-कीर्तन, राग-रंग, खेल-तमाशे, सब होते थे। परन्तु प्रातः जागकर सबने ब्रह्म मुहूर्त से प्रथम हवनादिक के लिए तैयार होना होता था। इस कारण रात एक प्रहर जाते-जाते सब सो जाते थे।"

"संजयजी!" दुर्योधन ने कह दिया, "यह सब कार्य ठीक है अथवा गलत है, कोई नहीं जानता। परन्तु यह सब कोई जानता है कि भगवान् का नाम, तथा हवन, संध्या का अन्न की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर सुरा और सुन्दरी की तुलना में प्रातःकाल जागना कौन मानेगा?

"वे जो इन विषयों के आनन्द को नहीं जानते, वे भले ही ओ३म् अग्नि···आदि मन्त्रों के गान के लिए अपनी नींद खराब करें, परन्तु जो एक वार किसी सुन्दर स्त्री के सम्पर्क में आ चुका है, वह आपके कहने से रात का आनन्द त्यागने को कदापि तैयार न होगा।"

'ठीक है महाराज! जब आप जैसे श्रीमान यही समझते हैं तो प्रजागण भी ऐसा ही विचार क्यों न करे? यहां हस्तिनापुर में दस सहस्र वेश्याओं के गृह हैं, वहां इन्द्रप्रस्थ में उस समय दस सहस्र मन्दिर थे, जिनमें भगवद्‌भजन, कीर्तन होते थे।"

इस पर महाराज धृतराष्ट्र ने कह दिया, "मेरा विचार है कि संजयजी एक बार द्वैतवन में हो आवें और वहां की पूर्ण अवस्था का वृत्तान्त ले आवें। इसके पश्चात् राजा दुर्योधन वह व्यवस्था यहां भी चालू करने का यत्न करें।"

"यदि आज्ञा हो तो जा सकता हूं।"

दुर्योधन ने पूछ लिया, "परन्तु खर्च कितना बैठेगा? राज्य इतना कुछ दे भी सकेगा क्या?"

मैंने कह दिया, "एक सौ स्वर्ण तो लग ही जायेंगे।"

दुर्योधन ने कह दिया, "यह भी हमारे नाम से भगवान् से ही मांग लीजियेगा।"

"महाराज! भगवान् देने के समय याचक का हाथ पहचानता है। आपके निमित्त वह मेरे हाथ में भला क्यों देगा?"

धृतराष्ट्र ने हँसकर कहा, "संजयजी! यह बात सुनने में आ रही

है कि आपकी पत्नी देवकन्या है और देव-कन्यायें सोना बनाने की विधि जानती हैं। आप अपनी पत्नी के विषय में यह बात बताना नहीं चाहते। आपको भय है कि कहीं कोई धन का लोभी आपकी पत्नी को ही हर न ले जाये।"

मैंने भी हँसते हुए कहा, "महाराज, आपकी बात गलत हो सकती है क्या ? परन्तु यदि महाराज मेरी पत्नी के विषय में विज्ञापन करते रहे तो एक दिन यह बात विख्यात हो जायेगी और इससे सत्य ही उसके हर लिए जाने का भय उत्पन्न हो जायेगा।

"अतः मेरी प्रार्थना है कि श्रीमान् वह सत्य किसी को बातएं नहीं।"

"तो संजयजी ! अपनी धर्म-परायण पत्नी से हमारे लिए भी कुछ मांग लीजिए।"

"आपकी आज्ञा उसको कह दूंगा। महाराज ! मानना या न मानना उसके अधिकार की बात है।"

"ठीक है। आप यदि कल ही जा सकें तो ठीक है। हम युधिष्ठिर की लोकप्रियता का वास्तविक रहस्य जानना चाहते हैं। देखें, आप क्या सुझाव लाते हैं।"

: ६ :

घर को जाते हुए विदुरजी ने बताया, "संजयजी ! यह व्यक्ति आपके सब धर्म-उपदेश घोलकर पी जायेगा। इस पर भी उनका कुछ प्रभाव नहीं होगा।"

"मैं इसको जो कुछ कहता हूं वह इस आशा से नहीं होता कि यह अपने कर्मों में सुधार करेगा। वह इसलिए है कि इसके अन्तरात्मा पर एक प्रभाव पड़ता रहे कि यह भूल कर रहा है। इससे इसकी आत्मा दुर्बल पड़ती रहेगी और यह पश्चात्ताप की अग्नि में स्वयं जला करेगा।"

विदुरजी हँस पड़े। उनका कहना था, "यह पाप का धन खा-खाकर सर्वथा पत्थर-हृदय हो गया है। इसके मन अथवा अन्तरात्मा, किसी पर भी, किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं होता।"

"हम अपना कार्य कर रहे हैं। फल परमात्मा के हाथ में है।"

"तो आप जा रहे हैं ?"

"हां, चिरकाल से पांडवों के दर्शन प्राप्त नहीं हुए । इसी बहाने उनके दर्शन हो जायेंगे । सम्भव है वहां जाने पर अन्य ऋषियों के दर्शन भी हों । खर्च मिले अथवा न मिले, मैं तो जाऊंगा ही ।"

अतः मैं द्वैतवन को चल पड़ा । वहां पहुंच मुझको पता चला कि अर्जुन तो इन्द्र से अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने गया है और अन्य भाई काम्यक् वन को लौट गये हैं ।

मैं काम्यक् वन की ओर लौट पड़ा । वहां भी मुझको निराशा हुई । पांडव वहां से धौम्य ऋषि के साथ तीर्थाटन के लिए चले गए थे ।

मैंने एक दिन उस वन में निवास किया और अगले दिन पांडवों के दर्शन न कर सकने के कारण लौटने ही वाला था कि महर्षि लोमश वहां आते दिखाई दिये । मैं अपने रथ पर चढ़ता-चढ़ता ठहर गया । ऋषि के समीप आने पर मैंने झुककर नमस्कार किया तो वह मुझको पहचान खड़े हो पूछने लगे, "संजयजी ! यहां क्या कर रहे हैं ?"

"भगवन् ! पांडवों के दर्शन के लिए द्वैतवन गया था । वहां से यह जान कि वे काम्यक् वन को आ गए हैं, यहां चला आया था । यहां से यह जान कि वे तीर्थाटन को चले गये हैं, हस्तिनापुर लौट रहा था ।"

"महाराज धृतराष्ट्र कैसे हैं ?"

"ऋषिवर ! वे वैसे ही हैं जैसे कोई मोह-पाश में बंधा हुआ मंदमति पुरुष दुःख सागर से बचने का उपाय करता हुआ, नीचे ही नीचे डूबता चला जाता है ।"

"संजयजी ! मुझे उस राजा पर बहुत दया आती है । मैं देख रहा हूं कि वह अपने जीवन-काल में ही समस्त भाई-बान्धवों, पुत्र-पौत्रों की तथा कुल के अन्य लोगों की हत्या हुई सुनेगा । अपने पुत्र-पौत्रों की विधवा रानियों का करुण-क्रन्दन सुनेगा । इस पर भी हम अपने आश्रम के धर्मानुसार उसको सत्य उपदेश ही सुनाना अपना कर्तव्य समझते हैं ।

"मैं यह जानता हूं कि वह विवेकहीन व्यक्ति हमारी बात को

नहीं सुनेगा। इस पर भी तुम जाओ तो मेरा आशीर्वाद कहकर उसको बताना कि मैं देवलोक से अर्जुन से मिलकर आया हूं।' अर्जुन ने वहां पहुंच अपने शील और शौर्य से इन्द्र और शिव को प्रसन्न कर लिया है। उसने महादेव से पाशुपतास्त्र और इन्द्र से आग्नेयादिक अनेक प्रकार के अस्त्र प्राप्त किये हैं।

"केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत देवलोक के शत्रु निवाच-कवचों को युद्ध में परास्त कर देवताओं पर भारी भार चढ़ाया है। वहां अर्जुन ने पौलोम तथा कालकेशी को परास्त कर उनका वध किया है, इन्द्र इससे अति प्रसन्न है।

"इस समय अर्जुन देवलोक का भ्रमण कर रहा है। मैं पांडवों को भी यही समाचार देने आया था। मैं तो अब उनके पीछे-पीछे जाऊंगा। मैं उनको यह बताने जा रहा हूं कि इन्द्र उनसे गन्धमादन पर्वत पर मिलेगा।"

मैं पांडवों को नहीं मिल सका। परन्तु अर्जुन की इस विजय और देवताओं पर उपकार की बात सुन अति प्रसन्नचित्त हस्तिनापुर लौट आया।

जब मैं अपने घर पहुंचा तो उर्मिला ने बताया कि महाराज ने एक सौ स्वर्ण आपकी यात्रा के निमित्त भेजा है। वह मैंने यह कहकर रख लिया है कि जब आप लौटेंगे तो आपको मिल जायेगा।

मैं हंस पड़ा और महाराज से मिलने से पूर्व विदुरजी से मिलने चला गया। जब मैंने स्वर्ण का वृत्तान्त बताया तो वे हंसकर बोले, "तात, यह लक्षण भय से पागल हुए पुरुष के हैं।"

हम दोनों इसके पश्चात् महाराज के प्रासाद में पहुंचे तो मैंने अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाया और काम्यक् वन में लोमश ऋषि का आशीर्वाद तथा सन्देश दे दिया।

मैंने कहा, "महाराज! ऋषि का कहना है कि आपके मन में तथा भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यजी के हृदयों में पांडवों के साथ सहानुभूति तो है, परन्तु आप अपने पुत्रों के मोह में फंसे हुए और भीष्मादिक पापमय अन्न खाने से बुद्धि को खो चुके हैं।

"अतः उनके मन में यह बात बैठ चुकी है कि आप तेरह वर्ष

व्यतीत होने पर भी उनका उचित अधिकार उनको नहीं देंगे।

"महाराज! देश-देशान्तर से आने वाले ब्राह्मण लोग यह कहते हैं कि दुर्योधन, कर्ण आदि देश-विदेश के नरेशों के सामने पाण्डवों की निन्दा कर नरेशों को उनके विरुद्ध करते जा रहे हैं।

"अतः अब यह बात विख्यात होती जा रही है कि आपसे न्याय पाने के लिए युद्ध करना ही पड़ेगा।

"यही कारण है कि वे उस युद्ध की तैयारी में लीन हैं। यही कारण है कि अर्जुन देवलोक गया हुआ है। वहां वह देवताओं को अपनी तपस्या और शौर्य से प्रसन्न कर रहा है।"

"दूसरी ओर धौम्य ऋषि अन्य पाण्डव भाइयों को तीर्थाटन के लिए ले गए हैं। इससे दो बातें होने वाली हैं। एक तो राजा दुर्योधन के पापमय विचारों को जान उसकी ओर से लड़ने वाले नरेशों की सेना में सैनिक भर्ती नहीं होते।

"दूसरे, पांडव यह समझ रहे हैं कि जब वे सब लोगों को सचेत और सतर्क कर रहे हैं तो युद्ध में उनका विरोध करने पर उनकी हत्या का पाप पांडवों को नहीं लगेगा।"

"पांडवों को विश्वास है कि वे सब मारे जायेंगे?"

"वे इसकी तैयारी कर रहे हैं।"

"तो इस विपत्ति से बचने का कुछ भी उपाय नहीं?"

"उपाय तो है, महाराज! किसी भी पाप-कर्म के फल से बचने का प्रायश्चित्त तपस्या करना है।

"महाराज! लोमश ऋषि ने यह कहा है कि मैं आपसे निवेदन कर दूं कि यह निर्विवाद सत्य है कि द्यूत-क्रीड़ा की स्वीकृति देने वाले महाराज स्वयं हैं। जो पापकर्म इस द्यूत-क्रीड़ा से हुआ है, उस फल के मुख्य भागी आप ही होंगे।

"इस फल को प्रायश्चित्त और तपस्या से आप दूर अवश्य कर सकते हैं। प्रायश्चित्त तो यह बताता है कि यह पूर्ण राज्य पांडवों के चरणों में अर्पण कर दिया जाये और अपने कुकर्मों के लिए उनसे क्षमा मांगी जाये। तपस्या उन्होंने यह बताई है कि आप अब गृहस्थ छोड़कर वानप्रस्थ ले लें।"

इसको सुन धृतराष्ट्र हंसने का बहाना करने लगे। यथार्थ में उनका मन रो रहा था। इस पर भी वे कहने लगे, "यह नहीं होगा। कहूं भी तो दुर्योधन नहीं मानेगा।

"परन्तु संजयजी, वे सब ऋषि एवं ब्राह्मण मेरे पुत्रों के विरुद्ध क्यों हो रहे हैं?"

"महाराज! मैं तो सूतपुत्र हूं और मैं यथासम्भव आपकी सेवा करता रहता हूं। इसका उत्तर मैं दे सकता हूं! सुना है कल हस्तिनापुर में मुनि नारद घूम रहे थे। आज्ञा हो तो आपके प्रश्न का उत्तर जानने के लिए उनको यहां बुला लाऊं?"

"वह क्या बतायेगा। वह तो मुझको शाप दे गया है। उस भोले मुनि को यह विदित नहीं कि शाप राजाओं और राज्यों के बल पर चलते हैं। इस समय राज्य मेरे पुत्रों के हाथ में है। अतः उसका शाप प्रभावहीन ही रहेगा।"

इसमें अब कुछ और कहने को नहीं रहा था। अतः मैं नमस्कार कर वहां से चला आना चाहता था। इसी समय दुर्योधन वहां आ गया और मुझको तथा विदुरजी को वहां देख मेरी यात्रा का परिणाम जानने के लिये पूछने लगा, "तात! युधिष्ठिर क्या अभी भी आशा कर रहा है कि वह राज्य वापस पा जायेगा?"

"राजन्!" मैंने कह दिया, "पांडव यही समझते हैं कि तेरह वर्ष की शर्त पूर्ण करने पर महाराज धृतराष्ट्र उनका राज्य वापस दिलवा देंगे।"

"राज्य क्या वीर पुरुषों के भोग की वस्तु नहीं रही अब? वे जो अपनी पत्नी का अपमान भरी सभा में होता देख कुछ कहने का साहस नहीं कर सके, अब क्या राज्य प्राप्त करेंगे? अब तो भारत के बहुसंख्यक नरेश मुझको कर देने लगे हैं। समय पर वे अपनी सेनाएं भी मेरी सहायता के लिए भेजेंगे।"

"परन्तु राजन्, वे तो आपके पूज्य पिता महाराज धृतराष्ट्र से अपने वचन के पालन की आशा करते हैं।"

"यह सब अब नहीं हो सकेगा। बारह वर्ष में तो अनधिकारी भी अधिकार भोगे तो वास्तविक अधिकारी हो जाता है। हमने तो यह

राज्य जीता है।"

इस पर मैंने अर्जुन की विजय पाने की बात बता दी। दुर्योधन ने कह दिया, "देवता अब मृत-प्राय जाति है। उसके प्रसन्न तथा रुष्ट होने से कुछ होता नहीं। मैं, कर्ण, दु:शासन, अश्वत्थामा, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि अनेक तो हम घर के ही महारथी हैं। हम सबके एक पक्ष में होने पर देवता भी लड़ने का साहस नहीं कर सकते।"

पुत्र की इन अभिमानयुक्त बातों को सुन धृतराष्ट्र का मुख पुनः प्रफुल्लित हो गया। महाराज ने कह दिया, "संजयजी तो पांडवों को मिल यहीं सके। पांडव तीर्थ-यात्रा पर गये हुए हैं। कोई नहीं जानता कि वे कहां हैं।"

इस पर दुर्योधन ने चिन्तित स्वर में पूछा, "तो वे द्वैतवन में नहीं हैं?"

"नहीं राजन्! द्वैतवन में पता चला कि वे काम्यक् वन में हैं। वहां गया तो पता चला कि वे तीर्थ-यात्रा पर चले गये हैं। वहां मुझको महर्षि लोमश जी मिले थे और अर्जुन की विजय की बात उन्होंने ही मुझको बताई है।"

विदुरजी दुर्योधन की घमंड की बात सुन बोले, "दुर्योधन! यह धन, सम्पदा, बड़े-बड़े बुद्धिमान और शूरवीरों को भी मोह में डाल देती है। मैं यह विश्वास से कहता हूं कि सुख तथा विलास में डुबे हुए सभी लोग मोहित हो जाते हैं।"

इतना कह विदुरजी उस स्थान से चले आये। मैंने भी जाने से पूर्व कहा, "महाराज! विदुरजी का कथन भी ध्यान देने योग्य है। आप स्वयं बुद्धिमान हैं। विचार कर लें कि लोमशजी के कथन में कुछ तत्त्व है, अथवा नहीं।"

: ७ :

मैं यह समझ रहा था कि दुर्योधन कुछ करने का विचार रखता है। उसको पांडवों के स्थान का ज्ञान न होने से निराशा हुई थी।

मैं यह जानने के लिये कि वह क्या करने का विचार रखता है, यत्न करता रहा। मेरे संदेह ने मुझको सतर्क कर दिया। कदाचित् पांडवों

का कोई ठीक स्थान न होने के कारण कुछ हुआ नहीं।

इस प्रकार तीन वर्ष और निकल गये। एक ब्राह्मण द्वैतवन से महाराज धृतराष्ट्र से मिलने आया तो विदुरजी मुझको लेकर वहां जा पहुंचे। विदुरजी को यह पता चल गया था कि वह पांडवों का कोई समाचार लेकर आया है।

जब हम वहां पहुंचे तो महाराज ने प्रसन्तता प्रकट करते हुए कहा, "संजयजी! यह ब्राह्मण देवता द्वैतवन से आये हैं और पांडवों का समाचार लाये हैं।"

हम दत्त-चित्त होकर ब्राह्मण देवता का कथन सुनने के लिए बैठ गये। विदुरजी ने ब्राह्मण के परिचय के लिये उससे पूछना आरम्भ कर दिया। इस समय शकुनी वहां पहुंचा। उसको भी ब्राह्मण के युधिष्ठिरादि का समाचार लाने की बात पता चल गयी थी।

ब्राह्मण ने युधिष्ठिर और उनके भाइयों की अति करुणाजक अवस्था का वर्णन करते हुए कहा, "महाराज! वे तो देवता हैं, पूर्व जन्म के कर्मों के अधीन ही वे इतना कष्ट भोग रहे हैं।"

मुझको कुछ ऐसा समझ आया कि वह ब्राह्मण पांडवों की दीन-हीन अवस्था बताकर धृतराष्ट्र के मन में करुणा उत्पन्न करने का विचार रखता है। प्रकट में तो धृतराष्ट्र ने बहुत ही दुःख प्रकट किया और ब्राह्मण को दान-दक्षिणा देकर विदा किया।

जब ब्राह्मण चला गया तो धृतराष्ट्र ने पूछ लिया, "क्या यह सत्य है संजयजी! कि युधिष्ठिरादि अति हीन-दीन अवस्था में हैं। यह ब्राह्मण तो कहता है कि कई-कई दिन तक उनको भोजन प्राप्त नहीं होता।"

कुछ ऐसा प्रकट हो रहा था कि धृतराष्ट मन-ही-मन इस समाचार से अति प्रसन्न हैं और वे इस समाचार का मुझसे भी समर्थन पा और भी अधिक प्रसन्न होंगे।

मेरी नीति यह हो रही थी कि महाराज दुर्योधन और उनके साथियों को आतंकित रखूं, जिसके फलस्वरूप वे सब श्रीहीन होते रहें। अतः मैंने वास्तविक बात बता दी। मैंने कहा, "महाराज! यह ब्राह्मण किस उद्देश्य से यहां आया था, मैं नहीं कह सकता। इसका

यह कथन सत्य नहीं है। कुछ दिन पूर्व देवलोक में जाते हुए मुझको नारदजी मिले थे। उनका कहना था कि जिस वन में पांडव ठहरे हुए हैं वहां आने-जाने वालों की भीड़ लगी रहती है।

"कुछ दिन हुए महर्षि मारकण्डेय वहां गये हुए थे और कई दिन तक वहां पुराणादि की कथाएं सुनाते रहे थे।

"एक दिन श्रीकृष्ण अपनी पटरानी सत्यभामा के साथ उनसे मिलने गये थे और उनका कुशल समाचार ले गये थे।

"महाराज ! भोजन के विषय में नारदजी का कहना है कि द्रौपदी नित्य एक सहस्र ब्राह्मणों को खिलाकर भोजन करती है।"

"अब भगवान जाने कि यह ब्राह्मण सत्य कहता है अथवा नारद जी सत्य कहते हैं।

इस पर धृतराष्ट्र पुनः शोकपूर्ण हो गया। यह शोक उसको पांडवों की दुखी अवस्था पर नहीं था, प्रत्युत अपने पुत्रों के काल को समीप आते देख कर था। वह कहने लगा, "अर्जुन, द्रौपदी और अपने भाई युधिष्ठिर को देखकर दांत पीसता होगा। वायु के समान बल-वाला भीम अवश्य ही लम्बी सांसें खींचता होगा।"[1]

"रण में सबसे अधिक बलवान भीम मेरे पुत्रों के वध की कामना करता हुआ धरती पर करवटें लेता होगा।

"जो कटु वचन दुर्योधन ने उसको कहे थे, उनका स्मरण कर पांचों भाई हस्तिनापुर पर आग बरसाने का विचार करते होंगे।"[2]

विदुरजी इस प्रलाप को सुन बोल उठे, "श्रीमान् ! यदि सत्य

---

१. यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिर च भीमें च दृष्टां सुख विप्रयुक्तम।
विनिःश्वसन् सर्प इवोग्रतेजा ध्रुवं शेतेवसतीरमर्षात् ॥
महा० वन० २३६-१३

२. स चापि भूमा परिवर्तमानो
वधंसुतानां भयकांक्षमाणः।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः
कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः ॥
—महा० वन० २३३-१६

ही आप ऐसा अनुभव करते हैं तो इसका उपाय क्यों नहीं करते ?"

"क्या उपाय हो सकता है ?"

"चलिये। वे द्वैतवन में रहते हैं। उनको गले लगा अपनी भूल स्वीकार कर उन्हें ले आइये।"

"मैं तो चाहता हूं परन्तु···परन्तु···किये से कुछ हो भी सकेगा ?"

शकुनी महाराज की उक्त बातें सुन वहां से उठ गया। विदुरजी ने मुझे आंख से संकेत किया। अतः मैं भी उठा और शकुनि के मन की बात जान अपने भेदियों को सतर्क करने चला गया।

अगले ही दिन हमको पता चला कि शकुनी, दुर्योधन, कर्ण और दुर्योधन के अन्य भाई द्वैतवन जाने की तैयारी करने लगे हैं। उनके साथ एक लम्बी-चौड़ी सेना के भी जाने की तयारी हो रही है।

यह सूचना पाते ही मैंने एक तीव्रगामी अश्वारोही युधिष्ठिर को सावधान करने के लिये भेज दिया।

एक सूचना मैंने इन्द्र को भी भेज दी। इस सूचना में मैंने स्पष्ट लिखा कि पांडवों की हत्या का आयोजन किया जा रहा है।

दुर्योधन ने सबको यही बताया कि वे मृगया और वन-बिहार के लिये जा रहे हैं। जितना दुर्योधन मृगया पर जाने का बहाना बनाता था और उस पर विश्वास दिलाने का यत्न करता था, हमको यह विश्वास होता जाता था कि यह सब षड्यन्त्र अपनी अभिलाषाओं की सिद्धि के लिये है।

दुर्योधन दल-बल सहित द्वैतवन को चला गया। इस बार वह और उसके भाई कर्णादि अपनी पत्नियों को भी साथ लेकर गये थे। यह केवल प्रजा की आंख में धूल झोंकने के समान था।

दुर्योधन को गए एक मास हो गया था। द्वैतवन से पहले कुछ सैनिक लौटे। उनमें प्रायः घायल थे। उन्होंने समाचार दिया कि इन्द्र के सेवक गन्धर्वों से युद्ध में घायल हुए।

इनके पश्चात् कुछ अन्य सैनिक आये। उन्होंने बताया कि राजा दुर्योधन सरोवर पर जल-क्रीड़ा के लिये स्थान बनाने लगे थे कि गन्धर्वों ने आपत्ति की। इससे झगड़ा बढ़ गया। युद्ध हुआ। कर्ण ने

बहुत शौर्य दिखाया है। परन्तु जब उनका रथ टूटकर टक-टूक हो गया तो वे चले आये। वे घायल भी हो गये थे। तत्पश्चात् दुर्योधन, दुःशासन और अन्य कौरव तथा उनकी पत्नियां गन्धर्वों के बन्दी हो गये हैं। ये सैनिक जान बचाकर भाग आये थे। बहुत से मारे गये थे, जो लौटे वे घायल हो गये थे।

इस समाचार से पूर्ण राज-प्रासाद में हा-हाकार मच गया। महाराज धृतराष्ट्र विलाप करने लगे। सब शंकित थे कि इन्द्र से युद्ध में जीता जा सकेगा क्या ?

अभी नवीन सेना युद्ध के लिए तैयार की ही जा रही थी कि दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि टूटे-फूटे रथों में बैठे हुए सिर छुपाने हस्तिनापुर में आ पहुंचे। इस पर वहां खूब हर्ष मनाया गया।

हमारा भेजा दूत भी आया और उसने पूर्ण समाचार इस प्रकार बताया। उसने कहा, "मैं युधिष्ठिर जी के पास समाचार लेकर गया तो उन्होंने पूछा, 'दुर्योधन यहां क्या करने आ रहा है ?'

"मैंने बताया, 'महाराज ! यह कहना कठिन है। उसका यहां आना युद्ध के निमित्त ही हो सकता है। उसके आने का प्रयोजन आपकी हँसी उड़ाना भी हो सकता है। यह केवल मनोविनोद के कारण भी हो सकता है। इस पर भी विदुरजी का संदेश है कि आपको सावधान रहना चाहिए।'

"भीम ने कहा, 'हम वचनबद्ध शान्ति से यहां रह रहे हैं। यदि उन्होंने यहां किसी प्रकार भी झगड़ा किया तो वे सीधे यमद्वार भेज दिये जायेंगे।'

"युधिष्ठिरजी वहां एक यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले थे। बहुत से ब्राह्मण और ऋषि-मुनि उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आए हुए थे। अतः उनके पास समय नहीं था कि वह दुर्योधन के आने की कुछ अधिक चिन्ता करें।

"दुर्योधनादि ने द्वैतवन से बाहर अपना शिविर लगाया और वन की गौओं की गणना का कार्य आरम्भ कर दिया। कुछ दिन के पश्चात् कौरव-सेना इधर-उधर घूमती हुई पशु-पक्षियों को मारने लगी।

[illegible] समाचार मिला कि गन्धर्वराज चित्रसेन वहां विहार करने आए हैं, और सरोवर के किनारे डेरा डाल रहे हैं। इसके पश्चात् समाचार प्राप्त हुआ कि दुर्योधन भी सरोवर के पास जल विहार के लिए शिविर लगाना चाहता है। इस पर उनका झगड़ा आरम्भ हो गया। गान्धर्व सेना अधिक थी। अतः उन्होंने प्रायः कौरव सेना को मार डाला और दुर्योधन आदि को बन्दी बना लिया। गंधर्वों ने कौरव-रानियों को पकड़ लिया और शिविर को आग लगा दी।

"यह समाचार कौरव सैनिक पांडवों के पास लेकर आए। भीम तो इस समाचार से बहुत प्रसन्न हुआ और अपने बड़े भाई युधिष्ठिर से बोला, 'भैया ! बहुत अच्छा हुआ। इन्द्र हमारा हितेच्छु है। इस कारण हमें उसका धन्यवाद करना चाहिए। उसने वही कर दिया है, जो हमें करना पड़ता।"

"परन्तु युधिष्ठिर ने भीम को डांटा और कहा, 'हम परस्पर झगड़ते समय एक सौ और पांच हैं, परन्तु दूसरों के साथ झगड़ा होने पर हम एक सौ पांच हैं।"

"इस पर भीम चुप हो रहा। युधिष्ठिर ने कह दिया, 'देखो भीम ! हमारे कुल की स्त्रियां पकड़ी गई हैं। यह अत्याचार हम सहन नहीं कर सकते। अतः शीघ्र जाओ और उनको छुड़ाकर लाओ।'

इस पर चारों भाई अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर गंधर्वों से लड़ने के लिए चले गये। युधिष्ठिर स्वयं यज्ञ पर बैठा था। इस कारण वह उठा नहीं।

"घमासान युद्ध के पश्चात् गन्धर्वराज परास्त हुए और अर्जुन गन्धर्वराज चित्रसेन को बन्दी बनाकर महाराज युधिष्ठिर के सामने ले आया।

"चित्रसेन ने युधिष्ठिर को बताया, 'धर्मराज ! हम तो सुरराज की आज्ञा से ही दुर्योधन को पकड़ने आए थे। हम जान गए थे कि वे आपकी हँसी उड़ाकर तथा आपको उत्तेजित कर आपसे युद्ध के विचार से आए हैं। उनका विचार था कि आपको मारकर सदा के लिए कांटा निकाल सकेंगे।

'भगवन् ! इन्द्र आपके मित्र हैं। उन्होंने यह जान कि आप

यज्ञ कर रहे हैं और अकेले हैं, मुझे भेजा था कि मैं उनको बन्दी बनाकर सुरराज के सम्मुख उपस्थित कर दूं।'

"युधिष्ठिर ने कहा, 'गन्धर्वराज ! हम इन्द्र के अपने पर इस अनुग्रह के लिए अत्यन्त आभारी हैं। उनको हमारा नमस्कार कहना। इस पर भी उनसे कहना कि हम अपने पारिवारिक झगड़ों को स्वयं ही निवटाने की शक्ति रखते हैं। हम अपना शिकार किसी दूसरे से मरवाकर प्रसन्न नहीं हो सकते।

'अतः दुर्योधन आदि तथा सब स्त्रियां छोड़ दी जायें। मैं उनका धन्यवाद करता हूं।'

यह सब वृत्तान्त सुन मुझको अधिक प्रसन्नता नहीं हुई। मेरे मस्तिष्क में होने वाले युद्ध का चित्र इतना भयानक था कि उसके निवारण के लिए इन्द्र ने सुगमता से ही कार्य सिद्धि कर दी प्रतीत होती थी।

मुझको युधिष्ठिर की युक्ति समझ नहीं आई कि वह अपने पारिवारिक झगड़ों को स्वयं ही निपटाने की शक्ति रखता है। मैं विचार करता था कि क्या आगामी होने वाले युद्ध में भी पांचों भाई ही लड़ेंगे ? क्या वे अपने किसी सहयोगी, सम्बन्धी, मित्र तथा सहमत व्यक्ति, राजा या उनकी सेना की सहायता नहीं लेंगे ?

मैं विचार कर रहा था कि इस युक्ति को क्या समझूं ? मूर्खता अथवा वस्तुस्थिति से अनभिज्ञता ? अब दुर्योधन की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि पूर्ण भारत नहीं तो भी आधे से अधिक भारत के राजा उसकी ओर से लड़ने के लिए आयेंगे। पांडव जो अपनी सेना नहीं रखते थे, अपने पास राज्य, धन-सम्पदा कुछ भी नहीं रखते थे, क्या वे अकेले ही लड़ने के लिए चल पड़ेंगे।

मैं इस घटना को सुनकर एक प्रकार से रो पड़ा। मैं समझता था कि युधिष्ठिर ने इन्द्र का अनादर कर दिया है।

कुल की स्त्रियों की बात थी तो उनको छोड़ने की बात हो सकती थी। दुर्योधन तो युधिष्ठिर की उदारता का पात्र नहीं था।

मुझको बार-बार इन्द्र का यह कथन स्मरण आ रहा था कि वह पूर्ण परिवार ही विनाश को प्राप्त होगा। इन्द्र ने परिवार को कम-से-

कम हानि पहुंचाकर कांटा निकालने का यत्न किया था, परन्तु धर्मराज की नीति से अनभिज्ञता ने सब विगाड़ दिया।

दुर्योधन आदि के लौट आने पर हम—मैं और विदुरजी, महाराज धृतराष्ट्र और भीष्म पितामह से मिलने गए। हमने उनको वह सब कथा बताई जो हमारा दूत द्वैतवन से लेकर आया था। इस पर भीष्मजी ने एक और कथा बता दी।

भीष्मजी ने बताया, "दुर्योधन का अभिमान तो पूर्णरूप से चूर-चूर हो गया था और वह तो मार्ग में ही आमरण उपवास से शरीर त्याग देने का निश्चय कर बैठा था, परन्तु कर्ण, दुःशासन तथा शकुनी ने उसको समझा-बुझाकर पुनः राज्य भोगने पर उद्यत कर लिया है। हमने सुना है कि पाताल के दानव-राज्य भी कहीं वन में उनको मिल गए थे। वे देवताओं से युद्ध करने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। कुछ वर्ष हुए अर्जुन ने उनके राजा पुलोम को मार डाला था। वे उसका बदला लेने के लिए दुर्योधन से सन्धि कर गए हैं और दोनों मिलकर अर्जुन और देवताओं को परास्त करने का विचार करते हैं।

"इन सब बातों से साहस पकड़ दुर्योधन आमरण निराहार रहने की बात छोड़, हस्तिनापुर लौट आया है।"

"यह तो ठीक बात है, महाराज!" मैंने कहा, "आत्म-हत्या तो महापाप है। दुर्योधन यदि लौट आया है तो पिछली की हुई बातों को सुधार भी सकता है। मरने के पश्चात्, तो यह कुछ भी न हो सकता।

"परन्तु नरश्रेष्ठ! अब क्या करना चाहिए? पांडव कौरवों से पीड़ित होने पर भी उनके उद्धार में कारण हुए। अपनी पत्नी द्रौपदी के अपमानित किए जाने के पश्चात् भी वे कौरवों की पत्नियों को अपमान से बचाने के लिए युद्ध करने लगे थे। ऐसी अवस्था में क्या उनसे मैत्री बनाकर उनको वन से लौटा नहीं लेना चाहिए।"

"भगवन्, जिन्होंने हित किया है, उनके शत्रु दानवों और असुरों से मित्रता न तो युक्तियुक्त है, न ही कर्म। यह तो घोर पाप हो जायेगा।

इस पर विदुरजी ने आग्रह किया; "अब समय है कि आप इस

परिवार के विषय में हस्तक्षेप करें। लोहा जब गरम हो, तभी उसको मोड़ा जा सकता है। अतः मेरा आपसे निवेदन है कि इस पारिवारिक विग्रह को अब शान्त करिये।"

भीष्मजी दुर्योधन से मिलने के लिए तैयार हो गये। वे दुर्योधन के आवास में स्वयं गए और अपना-सा मुख ले लौट भी आये। हम अभी उनके निवास-गृह में ही थे और उनके प्रयत्नों के फल को जानने की इच्छा कर रहे थे। भीष्मजी जब आए तो उनका मुख उतरा हुआ था। वे अपने आसन पर बैठकर बोले, "विदुर ! दुर्योधन पांडवों से सन्धि के स्थान अपने अभ्युदय के लिए यत्न करना चाहता है। उसके मित्र कर्ण ने कहा है कि यह ठीक है कि वे पांडवों से दुर्बल सिद्ध हुए हैं। परन्तु इससे यह अर्थ कैसे निकल आया कि पांडवों को राज्य मिल जाना चाहिए ?

"कर्ण का कहना है कि पांडव आजकल दुर्योधन की प्रजा-मात्र हैं। प्रजा को अपने राजा का प्रिय कार्य करना ही चाहिए। उन्होंने यह किया है, इसके लिए उनको पुरस्कार मिलना चाहिए। वह उनको भेज दिया जाएगा।

"रही बात राज्य भोगने की। उसके लिए वह यज्ञ, दान, दक्षिणा से तथा भारत-भर में विजय-यात्रा कर अपने राज्य को सुदृढ़ करेगा।

"विदुरजी !" भीष्मजी ने आगे कहा, "युक्ति से तो कर्ण की बात ठीक ही प्रतीत होती है। यदि किसी राजा की कोई प्रजा शक्तिवान है और विपत्ति पड़ने पर राजा की सहायता करती है तो क्या यह प्रजा का अधिकार बन जाता है कि वह राजा बन जाये अथवा राज्य मांगने लगे ?"

मैं कर्ण की युक्ति और भीष्मजी की सराहना सुन स्तब्ध रह गया। मैंने इसमें एक शब्द भी कहना अनुचित समझा। जब विदुरजी ने पूछा, "तो आप दुर्योधन को अपने आयोजन के लिये आशीर्वाद दे आये हैं क्या ?"

"मेरे आशीर्वाद की न तो किसी को आवश्यकता ही है और न ही मैं उसमें कुछ लाभ समझता हूं। देखो विदुर ! संसार के प्रत्येक कार्य को करने के दो मार्ग हैं। एक, दूसरों से मैत्री भाव बनाकर,

और दूसरा, बल से डरा-धमका कर। इन दोनों ही मार्गों से सफलता मिलती देखी गयी है। अतः मैं एक मार्ग की निन्दा कर दूसरे की प्रशंसा नहीं कर सकता।

"जो भी किसी मार्ग पर चलता है, उसको अपने मार्ग की कठिनाइयों को स्वयं पार करना पड़ता है। पांडवों ने भी एक मार्ग अपनाया है। उन्होंने दुर्योधन और उसकी रानियों को गन्धर्वों से छुड़ाकर, कौरवों से मैत्री के लिए हाथ बढ़ाया है। इस मार्ग में भी कठिनाईयां हैं। इन कठिनाइयों को वे स्वयं ही पार कर सकते हैं। मैं इसमें उनका सहायक नहीं हो सकता।"

इसके पश्चात् हम वहां से लौट आये। मार्ग में हम भीष्मजी की बातों पर विचार करते आये। हमें तो यही समझ आया कि भीष्मजी वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने के कारण समस्या को समझ ही नहीं सके। कदाचित् वे पुराने इतिहास को भी विस्मरण कर चुके हैं। अन्यथा वे यह न कहते कि दोनों मार्गों से ही सफलता मिलती देखी गयी है।

वास्तव में एक मार्ग ही सफलता प्राप्त करने का है, और वह है धर्म पर आरूढ़ होने का।

विदुरजी का कहना था, "परन्तु संजयजी! समस्या धर्म की विवेचना की है। भिन्न-भिन्न नीतिकार इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न करते हैं। 'मानव धर्मशास्त्र' और 'शुक्र नीति' में आधारभूत अन्तर है उस आधार में अन्तर के कारण ही दोनों में धर्म की व्याख्या में अन्तर पड़ गया है।

"मनु महाराज ने अपनी नीति का आधार आस्तिकवाद माना है। वे परमात्मा तथा आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं। परमात्मा को सर्व संसार का निर्माता मान भी उन्होंने आत्मा में कर्म करने की स्वतन्त्रता मानी है। इसी कारण उन्होंने इस स्वतंत्रता का आधार, आचार और ज्ञान पर टिकाने का यत्न किया है। ज्ञान और आचार के आधार पर मनुष्यों के कर्मों का अच्छा-बुरा होना माना है और उसके अनुसार ही उसके फल की प्राप्ति भी मानी है।

"ब्राह्मण उसको माना है जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता,

क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया इत्यादि सद्‌गुण पाये जाते हैं। वही ब्राह्मण कहा जाता है और इसकी पदवी समाज में बहुत ऊंची मानी है।[1]

"साथ ही यदि शूद्र में सत्यादि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं हैं तो वह शूद्र, शूद्र नहीं और ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं। जिसमें उक्त के लक्षणों का अभाव है, वह शूद्र है।[2]

"यह है आस्तिकों के धर्मशास्त्र का सार। उसमें चरित्र की इतनी महिमा है कि कर्मविहीन ब्राह्मण को काठ का मृग कहकर सम्बोधित किया गया है।"

"परन्तु दूसरे आधार पर धर्म का निरूपण करने वाले तो बलशालियों के वाक्य को धर्म मानते हैं—

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः पर॥

महा० सभा० ६९-१५

"वे न तो पूर्व जन्म को ही मानते हैं न ही भावी जन्म को। उनके लिए इस जन्म का वैभव ही सब कुछ है। इस वैभव को प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी वे करते हैं, उसी को कर्म मान लेते हैं। उनके लिये अधर्म वह है जो इस जन्म में वैभव प्राप्त नहीं करा सकता।

"एक बात और संजयजी! यह एक भ्रममूलक विचार उत्पन्न कर दिया गया है कि क्षत्रिय युद्ध में लड़ता हुआ मारा जाय तो वह स्वर्ग-प्राप्ति का भागी हो जाता है। कर्मफल के सिद्धान्त को मानने-वाले इस बात को नहीं मान सकते। जो क्षत्रिय ईर्ष्या, द्वेष, मोह, काम और अभिमान के लिये युद्ध करते हैं वे भला कैसे मोक्ष-प्राप्ति के

---

१. सत्य दानमथाद्रोह [आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्ते दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
२. शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
महा० शा० १८९-४,८

भागी हो सकते हैं ? धर्म की स्थापना के लिये ही युद्ध में जीवनदान श्रेयस्कर हो सकता है। अधर्म के लिये लड़ने वाला क्षत्रिय हो अथवा शूद्र, आर्य हो अथवा अनार्य, देवता हो अथवा असुर, कोई भी श्रेय को प्राप्त नहीं कर सकता।

"मरने के समय के संस्कार मुख्य हैं। अधर्माचरण करने वाले के संस्कार तो उसको नरक में ले जाने वाले होंगे। चाहे वह युद्ध में मरे अथवा घर पर रोग-शैया पर मरे।"

भीष्म पितामह के, जिनको धर्ममूर्ति माना जाता था, विचार और व्यवहार को देख मेरे मन में हस्तिनापुर से ही ग्लानि उत्पन्न हो गयी थी। मुझको पूर्ण नगर ही विनाश की अग्नि में विलीन हो रहा दिखाई देता था।

दूसरी ओर युधिष्ठिर धर्मराज कहलाते थे। आने वाले विनाश में इन महात्मा का हाथ भी उतना ही था, जितना भीष्मजी का।

मैं जीवन-काल में कौरवों को इस विनाश से बचाने का यत्न करता रहा था। उस काल का समय विफल हो गया। फिर मैं पांडवों की रक्षा के निमित्त कार्य करने लगा था। इस समय का कार्य भी व्यर्थ जा रहा दिखाई दे रहा था।

मैं मन में विचार करता था कि जो मित्र तथा शत्रु में, धर्मपरायण और अधर्मी में तथा हितेच्छु और द्वेषी में भेदभाव नहीं कर सकता उसके लिये अपना जीवन व्यर्थ करना अपने साथ हँसी करना ही हो सकता है।

मुझको अपने पूर्ण जीवन का कार्य ही व्यर्थ में जाता प्रतीत हो रहा था। इस समय मेरी अवस्था पचहत्तर वर्ष से ऊपर हो चली थी। मेरी संतान अपने-अपने कार्य में संलग्न थी और सुखी थी। अतएव मैं इस निराशापूर्ण वातावरण से भाग जाना चाहता था। मेरा विचार वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश पाने का हो गया।

यह विचार आते ही मैंने उर्मिला से राय की। वह बेचारी, जिसने मेरे लिए ही देवलोक त्याग दिया था, मेरे इस विचार का विरोध कैसे कर सकती थी। उसकी ओर से निश्चिन्त हो मैंने सुराधिपति को एक पत्र लिखकर भेज दिया। उस पत्र में मैंने लिखा—

"श्रीमान् ! मैंनें वर्षों से आपकी सेवा यथाशक्ति की है। परन्तु उस सेवा में अपने उद्देश्य की पूर्ति होती न देख अब जीवन से ही निराश हो गया हूं। आपकी भविष्यवाणी पूर्ण होने जा रही है। पूर्ण कुरु-वंश, कौरव-पांडव, दोनों—विनाश की ओर भागे चले जा रहे हैं। मैं इस विनाश को अपनी आंखों से देखना नहीं चाहता। अतः मैंने वन-गमन की तैयारी कर दी है। मैं अपने तीसरे आश्रम में जाकर अब भगवद्-भजन में लग जाना चाहता हूं।

"अतः मुझ से, आपका इंगित कार्य, अब नहीं हो सकेगा। मैं आपकी सेवा से मुक्ति पाना चाहता हूं। यह पत्र वहां पर पहुंचा दिया जहां से मुझे वेतन मिल जाया करता था।"

मैं अभी अपने उत्तर की प्रतीक्षा ही कर रहा था कि एक दिन वीणापाणि नारद मुनि ने घर के द्वार को आ खटखटाया।

मैंने द्वार खोला तो वे घर में चले आये। अन्दर आकर बोले, तुम्हारे पत्र का उत्तर लाया हूं।

मैंने उत्तर पाने के लिए हाथ बढ़ाया तो वे खिलखिलाकर हँस पड़े। हँसकर बोले, "चलो बैठो। आज तुमसे लम्बी बातचीत होगी।"

: ८ :

रदजी को एक आगार में ले गया। जब उनको बैठाकर मैं बैठने लगा तो उन्होंने कहा, "उर्मिला को भी बुला लो।"

मैंने उर्मिला को बुला लिया और हम दोनों मुनिराज के सामने बैठ गये। वे हम दोनों को सम्बोधित कर कहने लगे, "आपका निश्चय कि वानप्रस्थ में प्रवेश लेने जा रहे हैं, सुरराज को पता चल गया है। इस कारण उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है, जिससे आपका भ्रम निवारण कर सकूं।"

हम जानते थे कि इन्द्र स्वयं लिखकर सन्देश कभी नहीं भेजते। उनके विश्वस्त कार्यकर्ता उनका कार्य उनकी इच्छानुसार करते रहते थे। अतः नारदजी का कहना है कि वे उनकी ओर से आये हैं हमें अस्वीकार नहीं हो सका।

नारदजी ने कहा, "उर्मिला! तुम्हारे लिए इस मानव-लोक में

मृत्यु नहीं लिखी। तुम पुनः देवलोक में चलोगी। अपने कर्मफल को वहां चलकर ही निःशेष करोगी।

"सुरराज का विचार है कि संजयजी के मन में तुम्हारे प्रति कामना तृप्त हो चुकी होगी। यदि उनका यह विचार ठीक है, तो तुम मेरे साथ चलो।"

"मैं समझती हूं···" उर्मिला ने लज्जा से लाल होते हुए कहा, "जब हमारे मन की अन्य बातें सुरराज जान लेते हैं तो क्या इस विषय में नहीं जान सकते ?"

"वे तो जानते हैं कि तुम दोनों में आकर्षण अभी भी बना हुआ है। इस कारण संजय तुम्हारे बिना वानप्रस्थ ले नहीं सके और तुम देवलोक की ओर ध्यान करने के स्थान पर उनके साथ वन जाने के लिए तैयार हो।

"परन्तु इन्द्रराजका कहना है कि वानप्रस्थ का वास्तविक अर्थ है इन्द्रिय-दमन और लोकसेवा के लिए तैयारी। यह सब तो नगर में रहते हुए भी हो सकता है।

"सुरराज कहते हैं कि यद्यपि देवलोक से तुमको वेतन मिलता है, परन्तु उस कार्य करने में सदा स्वतन्त्र रहे हो। जब तुम यह समझ जाते हो कि कौरवों की नौका उसी दिशा में जा रही है जिसमें सुरराज इसको ले जाना चाहते हैं, तब ही तुम उसकी योजना चलाते हो, अन्यथा मनमानी करते हो।

"तुमने युधिष्ठिर को सूचना भेजी थी कि दुर्योधन उनकी हत्या करने आ रहा था और वे वन छोड़ जायें। परन्तु वे वन छोड़कर नहीं गये। तुमने अपना कार्य कर दिया था, यद्यपि इन्द्र के विचार में उनका वन छोड़कर जाना उचित नहीं था। तुमने इन्द्र को सूचना भेजी और उसने उस पर कार्य किया। यह भी युधिष्ठिर के कारण विफल गया। इस पर भी तुमने तो अपना कर्तव्य पालन कर दिया था।

"इससे पूर्व भी एक कार्य तुमने कृष्ण को द्यूत-क्रीड़ा की सभा में लाकर किया, वह तुम्हारी सूझबूझ और परिश्रम का एक अति उत्कृष्ट उदाहरण है।

"इसी प्रकार राजसूय-यज्ञ के पहले तुम्हारे जनमत बनाने का

प्रयास अति सराहनीय था।

"इस प्रकार भी इन्द्र यह देख रहे हैं कि उनके तथा तुम्हारे प्रयत्नों एवं कार्यों का कोई विशेष फल नहीं निकल रहा है। परन्तु इसमें तुम्हारा अथवा उनका कुछ भी दोष नहीं है। अभी तक उनका प्रयत्न यह रहा है कि कम-से-कम नरहत्या हो और केवल पाप के नेताओं को ही निकाल बाहर किया जाये। परन्तु भाग्य बहुत प्रबल है। उस पर किसी का अधिकार नहीं। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कोटि-कोटि प्रजा की हत्या होने वाली है। होनी टल नहीं सकती।

"परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपना प्रयत्न ही छोड़ दें। इस कारण सुरराज का कहना है कि निराश होने की कोई बात नहीं।

"रही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की बात। उनके लिये तुमको मना नहीं किया जा रहा। तुम इन्द्रिय-संयम से रहो और लोक-कल्याण के लिए अपने बुद्धिबल और अनुभव का प्रयोग करो।

"एक बात वह तुमको और बताना चाहते हैं। वह यह कि हम लोग भी अपने कर्मफल के ही अधीन अपना जीवन चलाते हैं। इस कारण फल का विचार छोड़ अपनी बुद्धि से ठीक कार्य करने में हमको संलग्न रहना चाहिये।"

मैं नारदजी की बात से यही समझा कि अभी सेवा-कार्य से मैं मुक्त नहीं किया गया हूं। अतः मैं हस्तिनापुर में ही टिका रहा। नारदजी ने उर्मिला को वापस देवलोक में चले जाने का निमन्त्रण दिया था, परन्तु वह नहीं मानी।

नारदजी गये, तो हम अपना कार्यक्रम बनाने लगे। उर्मिला तीर्थ-यात्रा के लिए हठ कर रही थी। इसके लिए मेरे मन में वह उत्साह नहीं था जो पहले रहा था। इस पर भी उर्मिला के कहने पर तैयारी में लग गया।

मैं अभी तैयारी में ही लगा था कि कर्ण भारत-विजय के लिए चल पड़ा। यह घोषणा की गई कि दुर्योधन वैष्णव यज्ञ करेगा। मैं मन में विचार करता था कि यह यज्ञ होगा क्या?

इस पर भी कर्ण चतुरंगिणी सेना लेकर चल पड़ा। वह शक्ति और यश जो गन्धर्वों से युद्ध में क्षीण हो चुका था, उसकी प्राप्ति का

ही उपाय ही रहा था।

मेरा विचार था कि इस यज्ञ का उद्देश्य तो देश की उन शक्तियों को एकत्रित करना होगा, जो पांडवों के विरुद्ध एकत्रित की जा सकती हैं। अतः मैंने अपनी तीर्थयात्रा का कार्यक्रम स्थगित कर दिया और इस यज्ञ के अभिनय को देखने के लिये ठहर गया।

कर्ण गया और कुछ मास तक घूम-घामकर चला आया, कर्ण की विजय, अथवा जो कुछ भी इसको कहा जाये, भारत की सीमा से बाहर नहीं गई। इस समय यह यत्न किया गया कि जहां विरोध की सम्भावना थी, वहां कर्ण जाये ही नहीं। इसका स्पष्ट अभिप्राय था कि यह समर-कार्य नहीं था। विरोधियों को सन्मार्ग पर लाने की बात थी ही नहीं। केवल उन नरेशों को ही इस यज्ञ में सम्मिलित करने का यत्न था जो पहले ही पांडवों के विरोध का निश्चय कर चुके थे।

कर्ण इस समर से लौटकर आया तो यज्ञ का आयोजन होने लगा। एक सुन्दर सभा-भवन निर्माण किया गया। उसमें यज्ञ-वेदी बनाई गई। देश भर के नरेशों, ऋषियों, महर्षियों, ब्राह्मणों और ऋत्विजों के लिये निमन्त्रण दिये गए।

दुर्योधन ने यज्ञ की दीक्षा ली। यज्ञ आरम्भ हुआ और सम्पन्न हो गया। आये हुए नरेशों से भेंट आदि ली गई और विदाई दी गई। ब्राह्मणों को दक्षिणा दी गई और भिखारियों को दान दिया गया।

यश की प्राप्ति के लिए दुर्योधन ने खुले हाथ धन बांटा। मुझको भी यज्ञ में उपस्थित होने का निमन्त्रण महाराज धृतराष्ट्र की ओर से प्राप्त हुआ था। मैं यज्ञ में सम्मिलित हुआ भी।

मैंने देखा कि कोई भी उच्च कोटि का विद्वान् अथवा महर्षि उस यज्ञ में नहीं आया था। नरेशों में से भी बहुत कम नरेश आये। प्रायः वही नरेश पधारे थे जो दुर्योधन की शक्ति के प्रयोग को सहन करने की शक्ति नहीं रखते थे। कई नरेशों ने केवल अपने प्रतिनिधि भेजे थे।

दान-दक्षिणा के विचार से भी यज्ञ फीका रहा। इस पर भी कई चाटुकार यज्ञ की प्रशंसा करते नहीं थकते थे।

इस यज्ञ में सबसे विशेष बात यह हुई थी कि इसकी समाप्ति पर एक सभा की गई। इस सभा में दुर्योधन के मित्र, भाई, बान्धव और

वृद्ध जन सब उपस्थित थे। बाहर से आये नरेश अथवा नरेशों के मन्त्री भी उच्च स्थानों पर सुशोभित थे। इस सभा में महाराज धृतराष्ट्र सबसे ऊंचे आसन पर बैठाये गए। उनके साथ भीष्म पितामह, द्रोण, कृपाचार्य और विदुरजी भी थे। अन्य नरेश भी अपने उपयुक्त स्थानों पर थे। मैं महाराज को सभा में उपस्थित महानुभावों का परिचय देने के लिए नियुक्त था।

सबसे पहले आये हुए नरेशों ने महाराज को भेंट दी। एक-एक करके नरेश आते गए। चारण उनका नाम घोषित करता था और मैं भेंट की वस्तुओं की सूची महाराज को सुनाता था। नरेशों ने हाथी, घोड़, रथ, रत्न, भूषण और नाना प्रकार के वस्त्र तथा स्वर्ण मुद्रायें दी थीं। प्रत्येक नरेश चांदी अथवा सोने के थाल में भेंट उपस्थित करता था। उसके साथ सब वस्तुओं की सूची होती थी। जब मैं सूची को पढ़कर सुनाता तो महाराज गद्गद् हो जाते।

जब सब लोग भेंट दे चुके तो फिर यज्ञ और कुरुवंश की प्रशंसा होने लगी। बाहर से आये नरेशों ने प्रशंसा की। कइयों ने इस यज्ञ की युधिष्ठिर के यज्ञ से तुलना की। कई राजाओं ने राजसूय-यज्ञ की महिमा का वर्णन किया।

कर्ण ने अपने वक्तव्य में कहा कि राजसूय-यज्ञ करनेवाला जब तक जीवित रहता है, तब तक वह पुनः किया नहीं जा सकता। अतः उसने घोषणा कर दी, "वह समय दूर नहीं, जब महाराज दुर्योधन भी राजसूय-यज्ञ करेंगे।

उसने आगे कहा, "ये पापात्मा-पांडव शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होंगे। तब समय आयेगा जब मैं महाराज धृतराष्ट्र के नाम पर राजसूय-यज्ञ की विजय के लिये धनुष-बाण उठाऊंगा।"

इसके पश्चात् दुःशासन ने भी पांड़वों के विरुद्ध विष-वमन किया। इसी प्रकार कुछ नरेशों ने भी दुर्योधन की प्रशंसा में कहते हुए, युधिष्ठिर को दो-चार गालियां देने में संकोच नहीं किया।

: ९ :

इस यज्ञ के पश्चात् मैं तीर्थ-यात्रा को चल पड़ा। यात्रा के लिये

प्रस्थान करने से पूर्व मैं भीष्मजी से मिलने के लिये गया।

जब मैंने उनको अपना निश्चय बताया कि मैं तीर्थ-यात्रा पर जा रहा हूं तो वह बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, "हमारा आशीर्वाद आपके साथ है। आशा है आप भावी युद्ध से पूर्व ही लौट आएंगे।"

इस आशा की बात सुन मैं विस्मय में उनका मुख देखता रह गया। भीष्मजी ने मेरे मन के भावों को जान कह दिया, "संजयजी! इस सभा के पश्चात् किसी को इस बात में संदेह नहीं रहना चाहिये कि युद्ध नहीं होगा।"

मैंने भीष्मजी से पूछ लिया, "पितामह! इस युद्ध के होने में तो सन्देह नहीं रहा। हां, एक बात पर विस्मय हो रहा है कि आप जो इस युद्ध को रोक सकते हैं, क्यों रोकने का यत्न नहीं कर रहे?"

"वह इस कारण कि वह प्रयत्न निष्फल होगा। एक पक्ष मानेगा ही नहीं। दूसरे को विवश हो युद्ध करना पड़ेगा।"

"मानने में कौन-सी कठिनाई है महाराज! सब कुछ पहले ही निश्चय है। धृतराष्ट्र, जब वचनानुसार पांडव तेरह वर्ष वनवास के पश्चात् आयेंगे, तो उनको राज्य दे देंगे। इसके बाद तो युद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"परन्तु संजयजी! दुर्योधन के मन में महत्वाकांक्षा उत्पन्न हो गई हैं कि वह राजसूय-यज्ञ करेगा। यह आकांक्षा तब तक पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक युधिष्ठिर की मृत्यु नहीं हो जाती। इसके लिए युधिष्ठिर को राज्य नहीं मिलना चाहिए।

"धृतराष्ट्र के वचन भंग करने की आवश्यकता भी नहीं होगी। तेरहवें वर्ष में पांडव अज्ञातवाश करने में सफल न हो सकेंगे। वे पकड़ लिये जायेंगे। अभी भी ब्राह्मणों के वेश में उनके पीछे गुप्तचर लगे हुए हैं। ज्यूं ही तेरहवें वर्ष में वे पकड़े गए तो उनको राज्य तो मिलेगा ही नहीं, साथ ही वे किसी बंदी-गृह में डाल दिए जायेंगे। और वहीं शेष जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किए जायेंगे।"

"परन्तु महाराज! अब तो दुर्योधन भारत-सम्राट बन गया है। इससे अधिक वह क्या चाहता है? कहीं ऐसा न हो कि कुछ अधिक बनने के लोभ में वह यह भी न रहे जो अब है?"

"यह बहुत कठिन प्रतीत होता है। युधिष्ठिर के सहायक अब केवल कृष्ण ही हैं, या द्रुपद रह गए हैं। शेष सब नरेश अब दुर्योधन की ओर हैं। अभी समय भी है। इस समय में शेष नरेश भी वश में कर लिए जायेंगे। अतः मुझको विश्वास हो रहा है कि पांडवों का अब इस लोक में हित नहीं रहा।"

"पितामह! मैंने पूछ लिया, "परन्तु आपके लिए दोनों ही बराबर हैं। आप तो किसी का पक्ष नहीं लेंगे।"

"मैं उनका पक्ष लूंगा जिसकी ओर विजयश्री होने वाली है। मैंने दुर्योधन का अन्न खाया है। उसकी विजय भी निश्चित है। राजनीति यह नहीं कि दुर्बल के पीछे लगा जाये।"

"परन्तु भगवन्! धर्म का भी तो कुछ है, आपको तो धर्म का अवहेलना नहीं करनी चाहिए।"

"संजय! धर्म सदा विजय की ओर होता है। राम ने बाली को अधर्म से मारा था। बाली के मरने के पश्चात् धर्म राम की शोभा बन गया।"

मैं भीष्मजी के यह विचार पहले भी सुन चुका था। इन विचारों का आधार, विदुरजी के कथनानुसार नास्तिकवाद था। नास्तिकों के लिए अधारभूत सत्य कुछ नहीं होता। यही बात भीष्मजी के पूर्ण जीवन में रही है।

मैंने भीष्मजी को निरुत्तर करने के लिए पूछ लिया, "परन्तु महाराज! यदि पांडव दुर्योधन को गंधर्वों का बन्दी बने रहने देते तो आप पांडवों का गुण गाते क्या?"

"निस्सन्देह! विजयी ही तो धर्मात्मा कहलाता है। यदि रावण जीत जाता तो आज संसार उसके ही गुण गाता।"

मैं हँस पड़ा और बोला, "कदाचित् आप ठीक कहते हैं। धर्म को अपना तेज रखने के लिए अधर्म पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

"परन्तु महाराज! मैं तो एक निर्धन ब्राह्मण मात्र हूं। मुझे राजनीति से क्या? अच्छा महाराज! आपका आशीर्वाद लेकर मैं तो आज जा रहा हूं।"

इतना कह नमस्कार कर मैं चला आया। वहां से मैं धृतराष्ट्र

से मिलने के लिए गया। उनको नमस्कार कर जब मैंने अपना तीर्थ-यात्रा पर जाने का विचार बताया, तो उन्होंने बहुत प्रसन्न हो शुभ कामना की। उन्होंने प्रसन्न हो पूछ लिया, "संजय जी ! कुछ धन कीं आवश्यकता हो तो बताओ। अब तो भगवान की कृपा है।"

मैंने कह दिया, "आपकी कृपा से, महाराज ! भगवान ने इतना दिया है जितना इस कार्य के लिए चाहिए।"

"कब तक लौटने का विचार है।"

"तीन वर्ष तो लग जायेंगे।"

"तब तक आ जाना। यदि भगवान ने पांडवों को तब तक जीवित रखा तो एक विकट समस्या उत्पन्न हो जाएगी।"

"महाराज ! मैं आ जाऊंगा। वह वर्ष पांडवों का गुप्त रहने का होगा। इसके पश्चात् तो राज्य देने का प्रश्न उत्पन्न होगा।"

"मुझको यह भय है कि वे कहीं देव-लोक में जाकर न छिप जायें। अन्यथा उनका पकड़ा जाना निश्चय है।"

"भगवान आपका भला करे।"

मैंने यह नीतियुक्त वाक्य कहा और पूर्ण परिस्थिति पर विचार करता हुआ घर आ पहुँचा।

विदुरजी और उनकी पत्नी हमको विदा करने के लिए आए हुए थे। मैंने विदुरजी को परिवार के दोनों वृद्ध-जनों की बातें बता दीं। विदुरजी केवल मुस्करा दिए।

मैं पहले पश्चिम् की तीर्थयात्रा करने गया वहां घूमता हुआ कैलाश और वहां से लौटता हुआ बद्रिका की ओर चल पड़ा। वहां से गंध-मादन पर्वत को जाने का विचार था। गंधमादन पर्वत से गंगा द्वार, वहां से यात्रा रथों द्वारा होनी थी।

रथ वहां एक विश्वस्त व्यक्ति के पास छोड़ रखे थे। हम गंधमादन पर्वत से चले तो मार्ग में द्वैतवन पड़ता था। अतः पांडवों के दर्शन की अभिलाषा जाग पड़ी। वन में प्रवेश कर उनके रहने का स्थान पता कर, उधर को चल पड़े।

जब हम पांडवों के आश्रम के पास पहुंचे तो कुटिया के बाहर एक ब्राह्मण हमें चिन्तातुर बैठा दिखाई दिया। वह ब्राह्मण पश्चिम्

दिशा की ओर देख रहा था। उसके पास खड़ी महारानी द्रौपदी भी उसी ओर देख रही थी।

मैं और उर्मिला कुटिया के सामने जाकर खड़े हुए तो द्रौपदी ने मुझको तथा उर्मिला को पहचान लिया। उसने उर्मिला के चरण-स्पर्श किए और मुझसे पूछने लगी, "तात् ! इधर कैसे आना हुआ ?"

"देवी ! आपके तथा पुण्यात्मा पांडवों के दर्शन की लालसा में इधर चले आए हैं। यूं तो हम तीर्थ-यात्रा के निमित्त घर से निकले हुए हैं। हमें दो वर्ष के लगभग घर से चले हो गए हैं।"

"आओ काकी !" द्रौपदी ने उर्मिला को कुटिया के भीतर बुला लिया और उनको आदर-सहित बैठाकर मुझसे कहने लगी, "आप यहां ठहरिए। पांचों आर्य इस ब्राह्मण की अरणी और मथनी लेने गए हैं। चिरकाल हो गया है, वे आए नहीं।"

मैं कुटिया के बाहर बैठे उस ब्राह्मण से उसकी अरणी तथा मथनी की बात पूछने लगा। उस ब्राह्मण ने बताया, "विप्रवर ! मैंने अपनी अरणी और मथनी अपनी कुटिया के बाहर एक वृक्ष पर रखी हुई थी। एक विशालकाय मृग आया और उस पेड़ से अपनी पीठ रगड़ने लगा। वह अरणी और मथनी उसके सींगों में उलझ गयी। इससे वह खूब झुंझलाया और जब इससे भी वह उसके सींगों से नहीं निकली तो वह भाग खड़ा हुआ। मुझको यही सूझा कि इन क्षत्रिय वीरों से कहूं तो वे उस मृग को अपने तीरों का लक्ष्य बनाकर मेरी अरणी ला देंगे। मैंने इनसे कहा। ये पांचों भाई अपना धनुषबाण लेकर मृग के पीछे चल हड़े। उनको गए अब दो पहर से ऊपर हो चुके हैं। वे अभी तक नहीं लौटे। मेरा अग्नि-होत्र का समय हो रहा है। भगवान जाने क्या विघ्न पड़ रहा है। मैं तो यह समझता था कि इनके एक ही बाण से वह मृग धराशायी हो जाएगा और मेरा काम बन जाएगा।"

मुझको भी यह कथा सुनकर चिन्ता लग गयी। कुटिया में जब द्रौपदी ने मृग की बात बताई तो उर्मिला और वह भी पुनः कुटिया के बाहर आ खड़ी हुईं।"

तीन घड़ी मुझको भी आए हो चली थीं। अंधेरा हो रहा था कि दूर से भीम के ठहाका मारकर हँसने का शब्द सुनाई दिया। द्रौपदी

के मुख से अनायास निकल ही गया, "वे आ गए।"

मैं और वह ब्राह्मण खड़े हो गये। हम दोनों एड़ियां ऊंची कर उधर ही देखने लगे, जिधर से आवाज सुनाई दी थी।

हमको पांचों भाई लम्बे-लम्बे पग भरते हुए, आते दिखाई दिए। उनकी दृष्टि हमारी ओर घूमी। द्रौपदी के साथ एक अन्य स्त्री को खड़ा देख वे एक क्षण के लिए ठहर गए। युधिष्ठिर ने एकाएक मुझको पहचाना और फिर अपने भाइयों को कुछ कहा। इससे सब हँसे और भागे हुए आए और मुझको नमस्कार करने लगे। मैंने आशीर्वाद दिया तो सबने उर्मिला को प्रणाम किया।

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने वह अरणी और मथनी उस ब्राह्मण को देकर कहा, "देवता! तुम्हारा अति धन्यवाद है। इसने हमारा अत्यन्त कल्याण किया है?"

यह सुन वह ब्राह्मण विस्मय से पांडवों का मुख देखता रह गया। परन्तु अस्त हो रहे सूर्य को देख अग्नि-होत्र के लिए समय हुआ जान, इनसे छुट्टी ले अपनी कुटिया की ओर चल दिया।

उसके जाने के पश्चात् पांचों भाई फिर खिल-खिलाकर हँस पड़े।

इस समय युधिष्ठिर मुझसे कौरव-जनों का समाचार पूछने लगा।

मैंने बताया, "तुमने भारी भूल की जो फँसे कौरवों को छुड़ा दिया।

"तुमने सांपों को जो गर्दन से पकड़े जा चुके थे, छुड़ाकर न केवल अपना अकल्याण किया है, प्रत्युत् लाखों जन साधारण की हत्या का कारण भी बन गए हो।"

मैंने उनसे हस्तिनापुर में हुई सभा का उल्लेख किया और उसमें कर्ण तथा दुःशासन की प्रतिज्ञा की बात भी बताई। मैंने बताया कि कर्ण ने कहा है कि वह अर्जुन को यम-लोक में पहुंचाए बिना सांस नहीं लेगा।

युधिष्ठिर ने पूर्ण वृत्तान्त सुनकर कहा, "तात्! यह तो देखने की बात है कि कौन किसको मारता है। परन्तु मैं अब भी विचार करता हूं कि बांधवों की सहायता न करते तो हम अधर्मी हो जाते।"

"ठीक है धर्मराज! परन्तु बांधव कौन हैं? इसकी विवेचना कर सकते हो क्या?"

युधिष्ठिर चुप रहा। मैंने कह दिया, "तुम्हारा बांधव इन्द्र था

अथवा दर्योधन था ? क्या परिवार में उत्पन्न होने मात्र से कोई बांधव हो जाता है ?

"वत्स ! घर में उत्पन्न सांप तो सांप ही रहता है। बांधव वह है जो समय में, कुसमय में सहायक हो। जो धर्म-कर्म में सहयोगी हो। जो जीवन-रक्षा करने वाला हो अथवा जो पालन-पोषण करता हो।

"आपको इतना तो विचार करना चाहिए था कि इन्द्र ने अर्जुन को दिव्यास्त्र दिए। दुर्योधन ने आपको जीवित जला देने का प्रयत्न किया। आप हत्या करने वाले की रक्षा के हेतु अपने वास्तविक हितेच्छु के सैनिकों की हत्या करने लगे ?"

युधिष्ठिर निरुत्तर हो चुका था। भीम सामने बैठा अपनी मूंछों को ताव दे रहा था। मैं देख रहा था कि अर्जुन के भुजदण्ड भी फड़क रहे हैं।

इसके पश्चात् मैंने उनको नारद मुनि से अपनी भेंट का वृत्तान्त सुनाया। मैंने कहा, "वत्स ! मुनिजी का कहना था कि इन्द्र तुमको पुनः राज्य दिलाकर भारत में धर्म का प्रचार और विस्तार देखने की इच्छा रखते हैं। उनके इस कार्य से, बिना युद्ध के ही, ध्येय की पूर्ति हो चली थी। मुनिजी का कहना है कि अब युद्ध होगा। बिना युद्ध के दुर्योधन आपको एक गांव-भर भी नहीं देगा। इसके साथ ही आपके विरुद्ध भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा लड़ेंगे। दुर्योधन ने भारत के अधिकांश नरेशों को अनेकानेक भेंट देकर अपना मित्र बना लिया है। आपके वनवासी हो जाने से लोग आपको असहाय मानने लगे हैं और संसार में निर्बल का कोई सहाई बनने को तैयार नहीं।"

इससे तो पांचों भाइयों का मुख मलिन हो गया। युधिष्ठिर ने साहस बांधकर पूछा, "क्या धृतराष्ट्र अपना वचन पालन नहीं करेंगे ?"

"उनको पूर्ण आशा है कि वे आपको तेरहवें वर्ष में ही पकड़ लेंगे। उन्होंने अभी से आपकी टोह रखने के लिए सैकड़ों गुप्तचर आपके पीछे छोड़े हुए हैं।"

इस पर युधिष्ठिर ने उस दिन की घटना का उल्लेख कर दिया। युधिष्ठिर ने मुझे बताया, "जब हम पांचों उस ब्राह्मण की अरणी तथा मथनी लेने गए थे, तो बहुत दूर निकल गये। मृग मारा नहीं जा सका।

हम मध्याह्न के समय थकावट और प्यास से व्याकुल एक जगह बैठ गए। मैंने सहदेव को कहा कि वह वृक्ष पर चढ़कर देखे कि कहीं समीप जल है ?

"वह पेड़ पर चढ़कर बोला, 'दादा ! समीप ही एक अति सुन्दर सरोवर है।'

"मैंने उसका उत्तर सुन, अपने तूणीर में जल भरकर लाने के लिए कहा। वह गया पर लौटा नहीं। पीछे उसका पता करने के लिए नकुल को भेजा। वह भी गया और नहीं आया। तत्पश्चात् अर्जुन और फिर भीम भी गए। जब ये भी नहीं लौटे तो विवश हो मैं स्वयं उधर गया। सरोवर के किनारे पहुंच मैं स्तब्ध रह गया। ये चारों वहां पर अचेत पड़े थे। मैं इनको देखकर दु:ख अनुभव कर रहा था कि सरोवर के किनारे के एक पेड़ से आवाज आयी, 'मैं यक्ष हूं। यह सरोवर मेरे अधिकार में है। इसका जल, कोई तब ही पी सकता है, जब वह मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दे।

'ये तुम्हारे भाई बिना उत्तर दिए बलपूर्वक जल लेने लगे थे। अतः मेरे कहने से ये मृत्यु के ग्रास हो गए हैं। यदि तुम भी वही करोगे तो तुम्हारा भी इसी प्रकार का अन्त हो जाएगा।'

"मैंने धैर्य नहीं छोड़ा और उससे कहा, 'पूछो ! यक्षराज पूछो ! क्या पूछते हो ?'

"इस पर उसने बीसियों प्रश्न पूछे। उन प्रश्नों के उत्तर में मैंने उसको बहुत-सी बातें बतायीं। उसके प्रश्न अद्भुत थे। परन्तु मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनके उत्तर दिए।

"यक्ष ने पूछा, 'सूर्य को कौन उठाए हुए है ?'

"मैंने उत्तर दिया, 'ब्रह्म।"

"उसका प्रश्न था, 'साथी कैसे मिलता है ?'

"धैर्य से।"

'ब्राह्मण में देवत्व क्या है ?'

'वेदों का अध्ययन।'

'क्षत्रिय में विशेषता क्या है ?'

'बाण-विद्या।'

'ऐसा बुद्धिमान, लोक-सम्मानित, इन्द्रियों के विषय को अनुभव करता हुआ और श्वास लेता हुआ भी, कौन जीवित नहीं कहा जा सकता ?'

'जो देवता, अतिथि, कुटुम्बी-जन पितर, और आत्मा का पोषण नहीं करता।'

'प्रवासी का मित्र कौन ?'

'सह-यात्री।'

'मरने वाले का मित्र कौन ?'

'दान तथा धर्म।'

'मनुष्य का दुर्जय शत्रु कौन ?'

'क्रोध।'

'अनन्त व्याधि क्या है ?'

'लोभ।'

'अहंकार किसको कहते हैं ?'

'महान् अज्ञान को।'

'धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष परस्पर-विरोधी होते हुए भी मनुष्य में कैसे रह सकते हैं ?'

'इन पर नियन्त्रण स्थापित करने से।'

'सबसे बड़ा धनी कौन है ?'

'जिसके पुण्य-संचय बहुत हों। जो सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय में सम होकर रहे।'

"वह यक्ष मेरे इन तथा ऐसे अनेक प्रश्नों के सतर्क उत्तरों को सुन बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा, 'मैं बहुत प्रसन्न हूं। तुम अपने एक भाई का जीवन मांग सकते हो।'

'मैंने नकुल का जीवन मांगा। इस पर उसने मेरे चुनाव का कारण जाना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। मैंने कारण बताया कि यह मेरी सौतेली मां का पुत्र है। मैं चाहता हूं कि हमारी दोनों माताओं का एक-एक पुत्र तो जीवित रहे।'

"इस पर प्रसन्न हो उसने सबको जीवित कर दिया।

"संजयजी ! आप बताइये भला कौन हो सकता था वह ?"

"मैं कैसे बता सकता हूं ?"

"वे थे धर्मराज ! उन्होंने कहा था कि वे मेरे पिता हैं उन्होंने साक्षात् दर्शन दिए। पीछे बताया कि यह अरणी और मथनी का अभिनय उन्होंने हमको एकान्त में ले जाकर मंत्रणा देने के लिए किया था।

"वे चाहते हैं कि हम अपने अज्ञातवास का काल विराट् नगर में व्यतीत करें। दुर्योधन को यह सन्देह हो गया है कि हम अज्ञात-काल का समय देवलोक में जाकर बितायेंगे। इस कारण उन्होंने उन सब मार्गों पर जो द्वैतवन से देवलोक की ओर जाते हैं, अपने गुप्तचर बैठाये हुए हैं।

"अतः उन्होंने हमको वह पूर्ण मार्ग बताया है जिससे हम बिना जाने और बिना बाधा के विराट नगर पहुंच सकते हैं।

"धर्मराज का कहना है कि विराटाधिपति हृदय से हमारे मित्र हैं, वह दुर्योधन से घृणा करते हैं। इस पर भी धर्मराज का कहना है कि वहां भी हमको भेष बदलकर ही रहना चाहिए।"

इसके पश्चात् अज्ञातवास के विषय में योजनाएं बनने लगीं। अभी तेरहवें वर्ष के आरम्भ होने में छः मास से अधिक समय था। इस पर भी यह निश्चय कर लिया गया कि उस काल की योजना को अभी से आरम्भ कर दिया जाये।

रात भोजनोपरान्त हम सब इस योजना की रूपरेखा तैयार करते रहे। बहुत विचार के उपरान्त यह निश्चय हुआ कि द्रौपदी मेरी लड़की बन मेरी पत्नी के साथ मेरे रथ पर गंगा-द्वार से दस योजन के अन्तर पर पांडवों की प्रतीक्षा करे और वे एक-एक करके देहातियों के रूप में निश्चित स्थान पर आकर मिलें।

: १० :

यह था माणिकलाल के तीसरे पुलिन्दे का अन्त। उसने नीचे लिखा था "शेष अभी लिख रहा हूं।"

मैं माणिकलाल की कथा पढ़ पुनः उन बातों को स्मरण करने लगा था, जो माणिकलाल ने पहले ही दिन फ्रण्टियर मेल में यात्रा करते हुए बताई थीं। उसने कहा था कि महाभारत का युद्ध दो प्रकार की विचार-

धाराओं में था। उसके इस कथन के प्रमाण उसके प्रथम और द्वितीय पुलिन्दे में इतने स्पष्ट नहीं मिले थे, जितने इस तृतीय पुलिन्दे में थे।

इस पर भी इस कथा में अनेक ऐसे प्रसंग मैंने पढ़े थे जिनको कि बुद्धि नहीं मानती थी। मैं माणिकलाल से मिलकर उस विषय में अपने संशय निवारण करना चाहता था।

मैं आशा कर रहा था कि दिनेश की हैलेन से सगाई हो जाएगी तो मुझको बम्बई जाना पड़ेगा। उस समय मैं माणिकलाल से महाभारत व इस लेख पर चर्चा करने का विचार रखता था। साथ ही मैं उसके इस कथा को पुनः लिखने में उद्देश्य भी जानने की इच्छा रखता था।

चिर-प्रतीक्षा के पश्चात् माणिकलाल का पत्र आया, जिसमें उसने दिनेश के हैलेन से विवाह न होने की बात लिखी थी। इस समाचार से मेरे चित को शान्ति मिली। मैं अब दिनेश दिल्ली आने का प्रतीक्षा करने लगा था। माणिकलाल ने लिखा था कि वह एक सप्ताह तक दिल्ली आयेगा।

सप्ताह नहीं हुआ था कि माणिकलाल का तार आया। उसमें उसने लिखा था "रीच इम्मीजिएटली (तुरन्त यहां चले आओ।)।"

मैं इस तार का अर्थ नहीं समझा। कदाचित्, दिनेश के विषय में यह बात हो। ऐसा था तो उसकी मां के विषय में कुछ नहीं लिखा। कुछ नोरा के विषय में बात हो सकती थी। इस पर भी मन को संतोष न हुआ। मैंने तुरन्त हवाई जहाज के कार्यालय में पहुंच अपने लिये अगले दिन प्रातःकाल बम्बई के लिए जगह सुरक्षित करा ली। तत्पश्चात् मैंने घर पहुंच अपनी पत्नी को तार के विषय में बताया। इस पर वह कहने लगी, "मैं भी चलूंगी।"

मैं इन्कार तो नहीं कर सका। मैंने यह कहा, "तार से कुछ पता नहीं चलता कि किस कारण बुलाया है। इससे मुझको पहले जाने दो और जाते ही तुम्हारे विषय में तार कर दूंगा।"

इस प्रकार दिनेश की मां को सांत्वना दे मैं अगले दिन दस बजे बम्बई जा पहुंचा।

टैक्सी कर माणिकलाल के घर पहुंचा तो माणिकलाल मुझको

पृथक् में ले जाकर बताने लगा, "साथ के कमरे में हैलेन, उसका पिता, नोरा और दिनेश बैठे बातचीत कर रहे हैं।"

"क्या हुआ है ?"

"हैलेन का विवाह कोटलवाला से नहीं हो सका और वह अब पुनः दिनेश से विवाह करने के लिए यत्न कर रही है।"

"उसका कोटलवाला से विवाह नहीं हो सका, क्यों ?"

"इस विषय में दोनों पक्षों की बात में अन्तर है। हैलेन तो कहती है कोटलवाला दुराचारी है और कोटलवाला कहता है कि हैलेन विवाह से पूर्व कुछ लाख रुपया अपने नाम जमा करा देने के लिए कहती थी।"

"और अब यह साथ के कमरे में सम्मेलन किस विषय पर हो रहा है ?"

"हैलेन रो रही है। उसके पिता काउसजी दिनेश को अपनी थिएट्रिकल कम्पनी में उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव कर रहा है। नोरा और दिनेश उसके मन की बात जानने का यत्न कर रहे हैं।"

"और माणिकलालजी, आप बैठे क्या कर रहे हैं ??"

"मैं भगवान् से प्रार्थना कर रहा हूं कि भगवान् दिनेश की आत्मा में बल दे कि वह अपने मन की बात कह सके। दादा ! एक रोती हुई सुन्दरी की बात का विरोध करना अति कठिन समस्या है।"

"तो आप इसमें उसकी सहायता क्यों नहीं कर रहे ?"

"नोरा मुझसे अधिक कर रही है।"

"मैं स्नानागार में स्नानादि के लिए चला गया। जब तक मैं वहां से निवृत्त हो तथा सन्ध्योपासना से छुट्टी पा आया, हैलेन और उसके पिता जा चुके थे। नोरा और दिनेश मेरे अवकाश पाने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

ज्यों ही मैं पूजा-गृह से बाहर आया, मेरे लिये अल्पाहार आ गया और नोरा हैलेन के साथ हुए सम्मेलन का वृत्तान्त सुनाने लगी।

वे सब अल्पहार ले चुके थे। इस समय साढ़े ग्यारह बज रहे थे। मैं अकेला ही खाने लगा। दिनेश गम्भीर भाव बनाये और आंखें नीची किये बैठा था।

मैं अल्पहार लेते हुए उसके ही सब बात बताने की प्रतीक्षा कर

रहा था। बात नोरा ने आरम्भ की, "यह स्पष्ट है कि हैलेन धन के लोभ में फँस गयी थी। वह एक मास से ऊपर तक दिनेश से टाल-मटोल करती रही, जब तक उसको कोटलवाला की निश्चित स्वीकृति नहीं मिली। उसने दिनेश को उत्तर नहीं दिया। यह उत्तर भी उसने स्वयं उपस्थित होकर नहीं दिया, प्रत्युत् अपने कोटलवाला से विवाह का निमन्त्रण-पत्र भेजकर दिया था। उस निनन्त्रण-पत्र से यह बात पता चली कि हैलेन का विवाह पिछले शुक्रवार कोटलवाला से होना था।

"इस पर आपको पत्र लिख दिया गया। परन्तु सोमवार को पता चला कि विवाह सम्पन्न नहीं हुआ। मैंने दिनेश से, जो रविवार को विवाह की दावत पर नहीं गया था, कहा, 'समाचार-पत्र में हैलेन के विषय में यह सूचना पढ़ लो और उससे सहानुभूति प्रकट कर आओ।'

"दिनेश ने सूचना पढ़ी। उस सूचना में यह लिखा था, 'कि किन्हीं कारणों से हैलेन का विवाह कोटलवाला से नहीं हो सका।'

"दिनेश की इच्छा सहानुभूति प्रकट कर जाने की नहीं हुई। मैंने भी इस बात पर कुछ बल नहीं दिया।

"परन्तु बात टल नहीं सकी। उसी सायंकाल हैलेन दिनेश से मिलने आई और उससे दो घण्टा बातचीत करती रही। दिनेश ने उससे विवाह करने से न कर दी। हमने कारण पूछा, तो इसने बताया कि जब मुझको विश्वास हो गया है कि इस विवाह में हैलेन आर्थिक लाभ-हानि की बात विचार कर सकती है तो मैंने उस जैसी लड़की से विवाह स्वीकार नहीं किया।"

मेरी हँसी निकल गई। इस पर वे तीनों मेरा मुख देखने लगे। मैं हँसा तो था अपने मन में, दिनेश के व्यवहार पर संतोष के कारण, परन्तु इस घटना का अन्त जाने बिना संतोष प्रकट कर नहीं सका। अतः मैंने हँसने का कारण यह बताया कि मुझे दिनेश में इतनी सूझ-बूझ की आशा नहीं थी। मैं समझता हूं कि यह सब करामात नोरा की है। इसने इस नास्तिक को आस्तिक बना दिया है।

नोरा ने आगे बताया, "कल काउसजी का पत्र आया था कि वह और उस की लड़की दिनेश से एक अत्यावश्यक विषय में बातचीत करने के लिये आठ बजे आने वाले हैं। इसीलिये हमने आपको यहां

बुला लिया था। हम समझते थे कि कदाचित् आपकी आवश्यकता पड़ जाये।

"आपका हवाई जहाज यहां नौ बजे पहुंच जाना चाहिए था। यदि आप समय पर आ जाते तो वार्तालाप आपके सामने ही हो जाता। परन्तु आपके आने में देरी हो गई और वार्तालाप के समय मुझको ही दिनेश के साथ बैठ बातचीत करनी पड़ी।

"बहुत बातें हुई हैं। काउसजी ने नकद एक लाख और पूर्ण कम्पनी का उत्तराधिकार दिनेश के नाम कर देने का प्रस्ताव किया है। हैलेन ने आंसू बहाते हुए आश्वासन दिया है कि वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती है और भविष्य में सदा दिनेश की निष्ठावान् पत्नी बन कर रहेगी।

"दिनेश ने कह दिया, हैलेन से प्रेम प्रकट कर उसने भूल की है। इसका भी प्रायश्चित्त वह करने के लिए सदैव तैयार रहेगा।

"अन्त में उसने यह कहा है, मैं हैलेन को करोड़ों रुपयों से अधिक कीमत की समझ था, परन्तु यह मिट्टी की डली प्रतीत हुई और इस मिट्टी की डली को यह लाख रुपयों की निधि भी स्वर्ण नहीं बना सकती।

"इस पर काउसजी ने अपना प्रस्ताव दोहराकर कह दिया, कि वे दिनेश को विचार करने के लिए समय देते हैं।

"इतना कह वह चले गये।

"अब दिनेश बतायेगा कि वह इस अवसर का क्या लाभ उठाना चाहता है।"

दिनेश मेरी ओर देख रहा था। उसने कहा, "पिताजी ! मैं चाहता हूं कि मैं हैलेन को उसी मुद्रा में उत्तर दूं जिसमें उसने मेरे प्रस्ताव का दिया था। क्या यह सम्भव हो सकता है कि मैं अपने अन्यत्र विवाह का निमन्त्रण-पत्र उसके पास भेज दूं ?"

"यह सम्भव है।" मैंने कह दिया, "आज सायंकाल ही हवाई जहाज से हम दिल्ली चले जाते हैं। आशा है कल विवाह का निश्चय हो जायेगा और फिर एक दिन में निमंत्रण-पत्र भेज सकते हो।"

दिनेश उसी सायंकाल दिल्ली चलने के लिए तैयार हो गया। माणिकलाल ने अपने नौकर को भेज रात के हवाई जहाज से दो सीटें

रिजर्व करा दी।

मध्याह्न भोजन के समय महाभारत पर बात चल पड़ी। मैंने पूछ लिया, "यह कथा जो आप लिख रहे हैं, कहीं-कहीं महाभारत से भिन्न हैं, इसका क्या कारण है ?"

माणिकलाल ने कुछ गम्भीर होकर कहा, "छपा हुआ महाभारत, सारा-का-सारा व्यासजी का नहीं है। बहुत-सी कथायें जो कौरवों-पांडवों से तथा उस संघर्ष से, जिसमें की विजय को 'जय' मान लिया था, सम्बन्ध भी नहीं रखतीं, उसमें लिखी हैं। जैसे वन में पांडवों से मिलने के लिए आनेवाले उनको इतिहास तथा पुराणों की कथाएं सुनाते रहे हैं। वे कथायें महाभारत की मुख्य कथा के साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं रखतीं। मैंने उनका उल्लेख नहीं किया।

"देखिये वैद्यजी! मेरे इस इतिहास के लिखने का एक विशेष उद्देश्य है। जब-जब भी देश पर भीड़ पड़ती है, तब-तब लगभग वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न होने के कारण ही होती है, जैसे कौरवों-पांडवों के वैमनस्य से उत्पन्न हुई थी। आज भी देश पराधीन है। इस पराधीनता में कारण भी, यहां के लोगों, विशेष रूप में नेताओं में विचारहीनता है। इस्लाम इस देश में आया और मुसलमानों का राज्य चले जाने पर भी, इस इस्लाम की अयुक्तिसंगत धारणा बनी हुई है।

"जैसे भीष्मजी ने कह दिया था कि धर्म बलशालियों के मत का ही दूसरा नाम है, वैसे ही मानने वाले जब देश में उत्पन्न हो जाते हैं, तब पतन होता है और वास्तविक धर्म की स्थापना के लिए संघर्ष करना आवश्यक हो जाता है।

"भारत देश में कुछ वैसी ही परिस्थितियां उत्पन्न हो रही हैं। देश में धर्म का आधार, कहीं-कहीं मुहम्मद साहब का कलाम, कहीं किसी गुरु महात्मा का कथन, अथवा किसी राजनीतिक नेता की इच्छा और कहीं किसी दल का स्वार्थ कहलाने लगा है। इसका आधार, वह मूल मानव-भावना और कल्याण नहीं रहा, जो होना चाहिये। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो गया है कि महाभारत जसे भयंकर युद्ध में कारण का ज्ञान सबको कराया जाये। मैं उस समय की परिस्थिति को स्मरण करता हूं तो आज की अवस्था देख कांप उठता हूं। उस

समय दुर्योधनादि नास्तिक, भीष्म, द्रोण-जैसे भ्रम में फँसे हुए आचार्य, और धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा और कर्ण जैसे मिथ्या मोह और अभिमान में फँसे और युधिष्ठिरादि जैसे मिथ्या सत्य और अहिंसा के भक्त उत्पन्न हो गये थे।

"आज भी सब कुछ वैसा ही हो रहा समझ आ रहा है। देश में नास्तिकों की भरमार है। मिथ्या धर्म के नाम पर महात्माओं की परम्परा चल रही है। तानाशाहों ने, जो अपने मत को धर्म का नाम देते हैं, शासन अपने अधिकार में कर रखा है। मुख में राम-राम और बगल में छुरी रखने वाले, धर्म गुरु बन गये हैं।

"इसी कारण ही महाभारत की सत्य कथा कहना अति आवश्यक हो गया है।"

"परन्तु इसमें पूर्ण सत्य ही है ? क्या कल्पना नहीं है ?"

"यह तो केवल मेरी अपनी देखी-सुनी बातें ही हैं। यदि मेरी स्मरण-शक्ति मुझको धोखा नहीं दे रही, तो यह सब कुछ सत्य ही है।"

"परन्तु इसमें कुछ अनहोनी बातें प्रतीत होती हैं जैसे द्रौपदी का नग्न किया जा सकना आदि।"

"यह तो एक सर्वथा साधारण-सी घटना है। महापुरुष अथवा ईश्वरीय शक्ति से परिपूर्ण व्यक्ति तो इससे भी अधिक कठिन कार्य कर और करा सकता है। यह योग की शक्ति ही थी।

"महाभारत में ऐसा वर्णन है कि दुःशासन द्रौपदी की साड़ी खचता-खेंचता थक गया, परन्तु उसका वस्त्र समाप्त नहीं हुआ। यह सम्भव है कि देखनेवालों को ऐसा ही समझ आया हो। मुझको उस समय यही समझ आया था कि वस्त्र तो लम्बा नहीं हुआ, हां दुःशासन साड़ी उतारने में सफल नहीं हुआ। कुछ भी हो, तथ्य यह है कि द्रौपदी को नग्न नहीं कर सका। कोई अदृश्य शक्ति उसकी रक्षा कर रही थी।"

"परन्तु माणिकलाल जी, कुछ विद्वान लोग महाभारत को एक आध्यात्मिक वार्ता-मात्र बताते हैं। उनका कहना है ऐसी कोई घटना नहीं हुई। ये दो दल, दो पक्ष और उनमें युद्ध, साथ ही उसमें एक का

विजय केवल मनुष्य के भीतर की दो प्रकार की प्रवृत्तियों के संघर्ष का वृत्तान्त है।"

"एक सीमा तक यह बात ठीक ही है। संसार में हो रहा संघर्ष अथवा समय-समय पर होने वाले युद्ध मनुष्यों की प्रवृत्तियों का बाह्य रूप ही हैं। पहले मानसिक विकार पैदा होते हैं। तदनन्तर वे विकार मनुष्यों से विकृत कार्य कराते हैं और फिर युद्ध होते हैं। जो बात महाभारत काल के इतिहास से स्पष्ट होती है, वह मानव की कहो अथवा मानव-मन की कहो, श्रेष्ठ प्रवृत्तियों के संगठन के विषय में है। बिना उनके संगठन के समाज के अंगों की अथवा मन की श्रेष्ठ प्रवृत्तियों की विजय नहीं हो सकती।

●●●



श्री गुरुदत्त

जन्म : १८९४

शिक्षा : एम०एस-सी०

प्रथम उपन्यास "स्वाधीनता के पथ पर' से ही ख्याति की सीढ़ियों पर जो चढ़ने लगे कि फिर रुके नहीं।

विज्ञान की पृष्ठभूमि पर वेद, उपनिषद्, दर्शन इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया तो उनको ज्ञान का अथाह सागर देख उसी में रम गये।

वेद, उपनिषद् तथा दर्शन शास्त्रों की विवेचना एवं अध्ययन अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करना गुरुदत्त की ही विशेषता है।

उपन्यासों में भी शास्त्रों का निचोड़ तो मिलता ही है, रोचकता के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उनका कोई भी उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना छोड़ा नहीं जा सकता।